तीसरा अध्याय

आपातकालोत्तर आलोचना: स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्श

वर्ण व्यवस्था और पितृसत्ता ने स्त्री तथा दलित को हमेशा से उनके अधिकारों से वंचित रखकर हाशिए पर धकेला। स्त्री को 'अन्य' तथा दलित को 'शुद्र' कहकर मुख्यधारा से बाहर रखा गया। शोषण की व्यवस्था पितृसत्ता एवं ब्राह्मणवाद को धार्मिक ग्रंथों ने पोषित किया, जिससे यह शोषण ओर गहरा हुआ। पिछले कुछ सालों में हाशिए के समाज में शामिल आदिवासियों पर प्रहार बढ़े, जो स्त्री, दलित से भिन्न होकर भी अधिक खतरनाक साबित हुए। स्त्री एवं दलित की अस्मिता के सवाल तथा आदिवासी के जीवन - संघर्ष को हिंदी साहित्य तथा आलोचना ने समझा - जाना और व्यक्त किया। स्त्री, दलित एवं आदिवासियों से जुड़े मुद्दों की आलोचना ने गहराई से पड़ताल की।

3.1. स्त्री विमर्श

पितृसत्तात्मक समाज में राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकारों से वंचित स्त्रियां शारीरिक व बौद्धिक स्तर पर हीन समझी गयी। पुरूषों द्वारा रचित धर्मशास्त्र व कानून ने स्त्रियों को पराधीनता की व्यवस्था दे रखी थी। अनेक वर्जनाओं को सहती हुई विकास से वंचित स्त्री लगातार पिछड़ती गई। हर तरह से वंचित व पीड़ित स्त्रियों को धीरे - धीरे जब अपनी गुलामी का अहसास हुआ तो उन्होंने आवाज उठानी शुरू की जिसने आगे चलकर आन्दोलन का रूप लिया। स्त्री आंदोलन ने विमर्श का रूप धारण किया जिसने पितृसत्तात्मक अवधारणाओं तथा मूल्यों को चुनौती दी।

3.1.1 अर्थ एवं परिभाषा

स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि, स्त्री चिंतक, स्त्री आंदोलन के विकास आदि को समझने से पहले स्त्री विमर्श के अर्थ एवं परिभाषा को समझ लेना आवश्यक है।

विनय कुमार पाठक के अनुसार, "लिंग के आधार पर अनुभूति को अलगाने वाला विवेचन ही स्त्री - विमर्श है।"[1] स्त्री विमर्श के तहत स्त्री की सामाजिक स्थिति, दृष्टि तथा भूमिका के प्रश्न उभरकर सामने आए, "स्त्री विमर्श में उठने वाले सवाल मात्र स्त्रियों से जुड़े हुए ही नहीं, अपितु उनसे हमें पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मापदण्डों, पैतृक मूल्यों, लिंग भेद की राजनीति और स्त्री उत्पीड़न के अन्तर्निहित कारणों को समझने की भी गहरी दृष्टि प्राप्त होती है।"[2]

स्त्री विमर्श पुरुषों के खिलाफ नहीं पुरुषों से बराबरी का विमर्श है। स्त्री विमर्श पितृसत्तात्मक व्यवस्था में हो रहे स्त्री के शोषण तथा गुलामी को समझते हुए इस व्यवस्था पर सजगता के साथ विचार कर रहा है। पारिवारिक तथा सामाजिक मूल्यों के निर्वहन का वास्ता लेकर स्त्रियों की रचनात्मक, बौद्धिक शक्ति को नष्ट करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर यह विमर्श सवाल खड़े करता है।

3.1.2 स्त्री आंदोलनः सामान्य परिचय

स्त्रियों के लिए समान अधिकारों की मांग 1792 में फ्रांसीसी क्रांति (1789 - 1799) के दौरान उठ चुकी थी, जिसमें बिना किसी लिंग - भेद के आजादी, समानता तथा भ्रातृत्व की मांग की गई। लेकिन यह आंदोलन ज्यादा सफल नहीं हो पाया।

लुक्रेसिया कफिन मोर, एलिजाबेथ कैंडी स्टैण्डन आदि ने न्यूयार्क में महिला सम्मेलन करके स्त्री स्वतन्त्रता पर घोषणापत्र जारी किया, जिसमें पूर्ण शैक्षिक व व्यावसायिक अवसर, कानूनी समानता, समान मजदूरी तथा वोट के अधिकार की मांग की गई। बाद में यह आन्दोलन पूरे यूरोप में फैल गया। 20वीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में सफरेज आन्दोलन में महिलाओं के लिए वोट का अधिकार मांगते हुए उनके लिए पूर्ण नागरिकता की बात की गई। 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक आयोग गठित किया जिसमें महिलाओं के लिए समान राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक अधिकारों की वकालत की। 1960 के बाद स्त्री आन्दोलन में नया मोड़ आया। 1966 में

---

[1] डा. विनय कुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 137

[2] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 19

'राष्ट्रीय महिला संगठन' का गठन हुआ। बेद्दी फ्राइडेन, ग्लोरिया स्टेनियम, शर्ली किसोम, आदि के दबाव में 1972 में सरकार ने 'समान अधिकार संशोधन विधेयक' पारित किया।

फ्रांस में सिमोन के 'द सैकेंड सैक्स' ने नारीवादी आन्दोलन की चेतना में विकास किया, स्त्री संघर्ष तेज हुआ। केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पालिटिक्स' तथा जर्मन ग्रीयर की पुस्तक 'द फिमेल यूनॉक' के जैसा अतिवाद सीमोन में नहीं था, बल्कि सीमोन स्त्री की सामाजिक तथा जैविक (प्राकृतिक) स्थिति, उसके विकास के चरणों आदि का वर्णन बहुत धैर्य और समझ के साथ किया है। अमेरिका का नारीवादी आन्दोलन स्त्री - पुरुष समलैंगिकता, मुक्त यौनाचार आदि विषयों तक सीमित रहा। और इन्हीं कारणों से 1970 के आसपास इस आंदोलन में भटकाव शुरु हो गया था।

भारत में 19वीं शताब्दी में सावित्री बाई फुले, जोतिबा फुले, ताराबाई शिन्दे, रमाबाई, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर आदि ने स्त्री शिक्षा व स्वावलम्बन के लिए काम किया। पंडिता रमाबाई ने स्वाधीन जीवन जीते हुए हिंदु धर्म की रुढ़ियों के खिलाफ तथा स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष किया। रमाबाई ने, "1882 में 'स्त्री धर्म नीति' किताब लिखी जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय नारी अतीत के गौरव की गाथा में संतुष्ट नहीं हो सकती।"[1] रमाबाई ने हिंदु स्त्री के जीवन के यथार्थ पर 1888 में 'द हाई कास्ट हिंदु' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें पितृसत्ता की आलोचना की। सावित्री बाई फुले ने अनेक सामाजिक बाधाओं को सहते हुए भारत की पहली शिक्षक के रूप में काम किया। सावित्री बाई फुले ने विधवा महिलाओं के बच्चों के संरक्षण के लिए 'बालहत्या प्रतिबंधक ग्रह' खोला। ताराबाई शिन्दे ने विधवाओं के पुनर्विवाह का पक्ष लेते हुए कहा, "पत्नी के मरते ही दूसरा विवाह करने की आजादी यदि पुरुषों को है तो कौन सी ताकत है जो विधवाओं को पुनर्विवाह करने से रोकती है।"[2] ताराबाई शिन्दे ने धार्मिक कट्टरताओं तथा अनाचारों का खुलकर विरोध किया।

---

[1] डा. के. एम. मालती, स्त्री विमर्शः भारतीय परिप्रेक्ष्य,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 36

[2] वही, पृष्ठ - 58

20वीं शताब्दी में गांधी जी ने बाल - विवाह, विधवाओं के बंधनों को गलत ठहराते हुए कहा कि स्मृति में लिखी हुई सभी चीजों को सही नहीं माना जा सकता, और ना ही उनका समर्थन किया जा सकता। 1910 - 20 में महिलाओं के स्थानीय संगठन बनने लगे थे - बंगाल में 'बंग महिला समाज' एवं 'अघोरी सेवा समिति', बनारस में 'भारत महिला परिषद', बेंगलोर में 'महिला सेवा समाज', महाराष्ट्र में 'सतारा अमलोन्नति सभा', इलाहाबाद में 'प्रयाग महिला समिति' आदि का गठन हो चुका था। 1926 में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' बनी। 1930 के दशक में मार्क्सवादी चिंतकों का जुड़ाव स्त्री आंदोलन से हुआ और 1954 में 'भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी' ने कलकत्ता में अपनी 'भारतीय महिला फेडरेशन' की स्थापना की। 1970 के दशक में गोरा देवी के नेतृत्व में 'चिपको आन्दोलन' (1973) और 'शराबबंदी' के लिए स्त्रियों ने उग्र आन्दोलन किया। 1982 में महिलाओं ने शराबबंदी के लिए आंदोलन किया। 1992 में 'राष्ट्रीय महिला आयोग' की स्थापना हुई।

इन सब आन्दोलनों व संघर्षों ने महिलाओं को कुछ कानूनी अधिकार जरूर दिलाएं हैं। लेकिन महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिली, उनका बड़ा हिस्सा आज भी शोषण व गुलामी की चारदीवारी में कैद है। पितृसत्ता परिवारों में कायम है और महिलाओं को आज भी बच्चा पैदा करने की मशीन से ज्यादा कुछ नहीं समझा जाता। कामकाजी महिलाएं भी घरेलू जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हैं, "भारत में सत्तर के बाद तेजी से स्त्री आन्दोलन का असमान विकास हुआ है। स्त्री उत्पीड़न, छेड़खानी, दहेज प्रथा, बाल विवाह, भ्रूण हत्या, कार्यक्षेत्र में महिलाओं के साथ भेदभाव और वैषम्य, राजनीतिक और सांस्कृतिक भेदभाव के सवालों के साथ स्त्री - अस्मिता, प्रेम पितृसत्ता, महिला के वस्तुकरण आदि सवालों के साथ साम्प्रदायिक और आतंकवाद की शिकार महिलाओं की समस्याएं भी तेजी से विमर्श के केन्द्र में आई हैं।"[1]

लम्बे संघर्ष के बाद महिलाओं ने मतदान का अधिकार, राजनैतिक भागीदारी प्राप्त कर ली है। प्रशासन, वाणिज्य, प्रबंधन, उद्यमिता आदि सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने काफी हद तक पहुंच भी

[1] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 100

बनाई है। लेकिन यह पहुंच उच्चवर्ग की 'पावर वुमेन' ही बना पाई है। महिलाओं की बड़ी संख्या आज भी गरिबी, अशिक्षा और अज्ञानता में जी रही है। स्त्री आंदोलन का केंद्र भी यही उपेक्षित महिलाएं हैं।

आज स्त्री संघर्ष के मुद्दे छोटे - छोटे, बहुत बड़ी संख्या में तथा महत्त्वपूर्ण हैं। आज घरों में स्त्री पर पुरुषों के दबाव के खिलाफ, पारिवारिक शोषण, कार्यस्थल पर पर्याप्त सुविधाओं, समाज तथा धर्म में बराबरी के स्थान आदि के लिए स्त्रियां आंदोलन कर रही हैं, "आज वह सदियों बाद खुली हवा में सांस ले पाने में समर्थ है। आज जिन स्त्रियों ने यौन - शुचिता, पतिव्रत, और सतीत्व जैसी बेड़ियों को उतार फेंका, वे विशिष्ट बन गई हैं। इन स्त्रियों ने स्वयं अपने रास्तों का चुनाव किया और कीमत चुकायी।"[1] इन बेड़ियों से आजाद होने वाली स्त्रियों को प्रेम, सैक्स, इज्जत ही नहीं साथ ही साथ उन्हें निष्ठा और संवेदनशीलता भी चाहिए।

स्त्रियों की स्थिति में धीरे - धीरे ठोस बदलाव आकार ले रहा है और वो भी ऐसे समय में जब देश में मॉल संस्कृति का प्रसार हो रहा है। सौंदर्य के मानक तय करता बाजार स्त्री के जीवन में दर्द एवं अपराधबोध को भर रहा है। स्त्री की नुमाइश भोग की वस्तु के रूप में होने लगी है। आज महिलाएं सामाजिक ढांचे से तो आजादी प्राप्त कर रही हैं लेकिन बाजार के ढांचे में फंसकर आजादी के नाम पर अनेक तरह की गुलामियों को आत्मसात कर रही हैं। भूमण्डलीकृत युग में बाजार द्वारा महिलाओं की आजादी को अलग अर्थों में लिया जा रहा है। मुक्ति, आजादी के नाम पर महिलाएं कुछ हद तक घरों से बाहर तो निकली पर स्वाधीनता का भ्रम पैदा करने वाली 10 - 15 प्रतिशत महिलाएं जो रेंप, पर्दों, विज्ञापनों, सौंदर्य प्रतियोगिताओं में नजर आने लगी और देह की आजादी के नाम पर पूंजीवाद के चंगुल में गिरफ्त होने लगी। फर्क सिर्फ इतना है कि सामंती व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से भोगी जाने वाली स्त्री पूंजीवाद के दौर में सार्वजनिक रूप से उपभोग की वस्तु बनाई जाने लगी। आजादी का यह भ्रम पहले से भी ज्यादा खतरनाक है क्योंकि इसमें शोषक की पहचान भी सीधे तौर पर नहीं की जा सकती। इस बदलाव को साहित्य में ढालने का

[1] राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

काम स्त्री लेखकों ने किया है। स्त्री की बदलती छवि को नारीवादी लेखकों ने गम्भीरता से लिया और साहित्य में एक बहस की शुरुआत हुई।

3.1.3 स्त्री साहित्य एवं आलोचना

स्त्री आन्दोलन ने साहित्यकारों को प्रभावित किया और आधी आबादी के अस्तित्व, अस्मिता, अधिकारों से जुड़े सवाल साहित्य ने उठाने शुरु किए। साहित्य ने स्त्री आन्दोलन से प्रेरणा ली और आन्दोलन के लिए जमीन भी तैयार की। मेरी वोल्स्टोन, जान स्टुअर्ट मिल, सीमोन, केटमिलट, वैटी, फरीडन, इरीगैरों, अन्ना - सीवार्ड, हेलन, मारिया, जेनटेलर, मेरी रसेल आदि ने साहित्य में स्त्री प्रश्न को उठाया। इन चिंतकों ने स्त्री सम्बन्धी मुद्दों को रेखांकित करते हुए पितृसत्तात्मक समाज पर प्रश्नचिन्ह लगाए। स्त्री शिक्षा तथा उसकी पारिवारिक, सामाजिक स्थिति में बदलाव की मांग इनके लेखन में बार - बार उभरी।

मेरी वोल्स्टोन की पुस्तक 1792 में 'महिलाओं के अधिकारों का समर्थन' (Vindication of the Rights of Women)में महिला अधिकारों की बात जोरदार ढंग से उठाई। 1865 में जान स्टुअर्ट मिल ने महिलाओं की अधीनता (The Subjection of Women)नामक पुस्तक में महिलाओं की कार्यप्रणाली को अलग रूप में देखने की कोशिश की। 1884 में 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में एंगेल्स ने मातृवंशीय व्यवस्था व विवाह संस्था के स्वरूप पर चर्चा करते हुए महिला शोषण का कारण पूंजी को माना। सीमोन दी बोऊवा की पुस्तक 'स्त्री उपेक्षिता (1947)' ने स्त्री आंदोलन तथा विमर्श को एक नई दिशा दी। भारतीय भाषाओं में अरुंधती रॉय, अमृता प्रीतम, तसलीमा नसरीन, महाश्वेता देवी आदि स्त्री लेखन को दिशा दी।

आदिकाल व भक्तिकाल में देवीस्वरूपा स्त्री रीतिकाल आचार्यों के सामने भोग्या बनी। नवजागरण काल में आते - आते सभी क्षेत्रों में जागृति की बात उठने के साथ ही स्त्री स्वातंत्र्य की बात भी नवजागरण काल के अग्रदूत भारतेन्दु ने बड़े जोर - शोर से उठाई। 1874 के आस - पास समाज में चल रही उथल - पुथल का एक कारण भारतेन्दु महिलाओं की अशिक्षा को मानते हैं,

"देश की गुलामी के पीछे कारण है समाज में फैली कुरीतियाँ हैं और वे मानते हैं कि इन कुरीतियों के पीछे नारी की स्थिति तथा अशिक्षा है।"[1] उन्होंने 'बालाबोधिनी' पत्रिका में स्त्री शिक्षा तथा शिशुपालन जैसे विषयों पर लेख छापकर महिलाओं को स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारियां उपलब्ध करवाई।

सुभद्रा कुमारी चौहान (1904 - 1948) ने स्त्रियों की सामाजिक - पारिवारिक स्थितियों को रेखांकित किया है तथा उनमें परिवर्तन की मांग की है, "सुभद्रा कुमारी चौहान डंका पीटकर बदलते परिदृश्य में स्त्री - पुरुष सम्बन्धों के परम्परागत स्वरूप में लचीलेपन और परिवर्तन की मांग करती हैं।"[2] सुभद्रा कुमारी चौहान का साहित्य घरेलू साहित्य नहीं है बल्कि उसमें पूरा समाज है। सामाजिक ताने - बाने में फंसी स्त्री की स्थिति को लेकर सुभद्रा कुमारी चौहान बेहद चिंतित है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को वे स्त्रियों की दुर्दशा का कारण मानती हैं तथा इसे बदलने के लिए पुरुषों को नसीहत देती हैं, "सुभद्रा कुमारी चौहान चुनौती देकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था को अपने भीतर झांककर जवाब तलाशने की सलाह देती हैं।"[3] आनंद प्रकाश ने सुभद्रा कुमारी चौहान की ईमानदारी को रेखांकित करते हुए कहा है कि "पुरानी पारिवारिक संरचनाएं आधुनिक विचारशील नारी के लिए अनावश्यक बाधा प्रस्तुत करती हैं। अनेक स्थितियों में नारी की सक्रियता उसे एक ओर ले जाती है, और पुरुष - प्रधान समाज की पारंपरिक नियमावली उसे दूसरी ओर खींचती है। अपनी कथा में इस मसले को सुभद्रा कुमारी चौहान वास्तविक तथा नैतिक शैली में एक साथ परखती हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उनका बल निरंतर नारी की साहसिकता और ईमानदारी पर रहता है।"[4] स्त्रियों के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए महारानी लक्ष्मीबाई की वीरता पर कविता लिखकर सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने अलग दृष्टिकोण का परिचय दिया। वे 1857 की क्रांति की 75वीं सालगिरह पर 'झांसी की रानी (1927)' कविता लिखने वाली पहली लेखक हैं।

---

[1] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चन्द्रशेखर कंबार, के. श्रीनिवासराव (सम्पादक), समकालीन भारतीय साहित्य, अंक - 179, मई - जून 2015, पृष्ठ - 184

[2] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक 48, पृष्ठ - 53

[3] वही, अंक 48, पृष्ठ - 53

[4] आनन्द प्रकाश, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कहानियां, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ - 8

महादेवी वर्मा अपनी कृतियों अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएं, शृंखला की कड़ियां (1942) में भारतीय स्त्री के जीवन के अलग - अलग पक्षों को उजागर किया है। स्त्री मुक्ति के संदर्भ में महादेवी वर्मा का कहना है कि स्त्री को अपनी सामाजिक - सांस्कृतिक जमीन चाहिए, जहां वह खुलकर रह सके। उसे अपना स्थान, अपना स्वत्व चाहिए, "हमें न किसी की जय चाहिए, न किसी से पराजय। न किसी पर प्रभुत्व चाहिए, न किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे सत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[1] आत्मसंपन्न हुए बिना स्त्री की मुक्ति संभव नहीं है। महादेवी ने स्त्री की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति के प्रति चिंता व्यक्त की है। स्त्रियों की सामाजिक आजादी की बात करते हुए महादेवी वर्मा जोर देकर कहती हैं कि स्त्री को गुलाम बनाकर रखने वाले नियमों को समय के साथ बदलने की जरुरत है, "कोई नियम, कोई आदर्श, सब काल और परिस्थितियों के लिए नहीं बनाया जाता। सब में समय के अनुसार परिवर्तन संभव ही नहीं अनिवार्य हो जाते हैं।"[2] महादेवी के निबंधों में स्त्री जीवन का यथार्थ व्याप्त है। उनका कहना है कि स्त्री भी इंसान है और उसे भी बराबर अधिकार तथा सम्मान मिलना चाहिए। लेकिन स्त्री को यह सम्मान तभी हासिल होगा जब उसे पुरुष के बराबर का दर्जा मिले। स्त्री पुरुष के लिए इंसान न होकर मात्र एक वस्तु है जिसकी तुलना महादेवी वर्मा ने पशु - पक्षियों से की है, "इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग - बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय और घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को पालता है तथा पालित पशु - पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का चित्र देखना हो तो, विवाह के समय गुलाब - सी खिली हुई, स्वस्थ बालिका को पांच वर्ष बाद देख लीजिए। उस समय असमय प्रौढ़ हुई दुर्बल संतानों की रोगिणी पीली माता में कौन - सी विवशता, कौन - सी रुला देने वाली करुणा न मिले।"[3] महादेवी वर्मा ने स्त्री की इस स्थिति का जिम्मेवार पुरुष को माना है तथा पुरुष की मानसिकता को बदलने की जरुरत महसूस की है।

---

[1] महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,'अपनी बात' से

[2] वही, पृष्ठ - 108

[3] वही, पृष्ठ - 102

महादेवी के साहित्य में दुख, वेदना, आंसू और रहस्यवाद के साथ - साथ संघर्ष, चेतना, असंतोष और आक्रोश भी है। 'रहस्यवादी' और 'नीर भरी दुख की बदली' कही जाने वाली महादेवी का स्त्री दृष्टि से अध्ययन इससे पहले नहीं हुआ था। अपने समय तथा समाज के प्रति बेचैनी तथा विद्रोह से भरी हुई महादेवी वर्मा द्वारा अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए रहस्यवाद का सहारा लेना भी अपने आप में एक सवाल है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "महादेवी वर्मा भारतीय स्त्री के जीवन के अनुभवों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने वाली कलाकार हैं, उसके जागरण का अभियान चलाने वाली कार्यकर्त्ता और उसकी पराधीनता के जटिल रूपों का विश्लेषण तथा स्वाधीनता की संभावनाओं की तलाश करने वाली दार्शनिक भी हैं।"[1]

इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए समकालीन स्त्री लेखकों कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, चित्रा मुद्गल, सूर्यबाला, राजी सेठ, नमिता सिंह, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, निरुपमा सेवती, अनामिका, अल्का सरावगी, नासिरा शर्मा, निर्मला पुतुल, कात्यायनी, आदि ने स्त्री समस्याओं को यथार्थ रूप में उजागर किया है।

स्त्रीवादी तथा स्त्री समर्थक लेखकों ने पुरुष वर्चस्व को चुनौती दी है, स्त्री विरोधी पितृसत्तात्मक नैतिकताओं का खण्डन किया है तथा लिंग - भेद पर आधारित भाषा को बदलकर नई भाषा गढ़ने का प्रयास किया है। सालों से चली आ रही स्वत्वहीनता तथा चुप्पी को तोड़कर स्त्री साहित्य ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। आधी आबादी से जुड़े मुद्दों को उठाने वाले स्त्री विमर्श को हिंदी साहित्य ने पर्याप्त स्पेस दिया है। सामाजिक विसंगतियों से उपजा स्त्री साहित्य मुख्यधारा के साहित्य में अपनी जगह निर्धारित कर चुका है। स्त्री साहित्य जीवन की कटु सच्चाइयों का रोचक एवं प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत कर रहा है। "स्त्रियों का रचनात्मक लेखन नारी मुक्ति और जागरण का एक माध्यम है, उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा और अभिव्यक्ति का

[1] मैनेजर पाण्डेय, भरतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 123

साधन भी।"[1] स्त्री लेखन समाज के जटिल प्रश्नों के प्रति संवेदनशील है। बदलते सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य को स्त्री लेखन भली - भांति समझ रहा है।

स्त्री लेखन सिर्फ शौकिया लेखन नहीं है, न ही फुलकारी काढ़ने जैसा है बल्कि यह स्त्री के अस्तित्व के लिए संघर्ष है। लेखन उनके लिए कोई उबाऊ काम नहीं है, यह उनके लिए जीवन का सवाल है। मन्नू भंडारी लेखन को आपदाओं से राहत का साधन मानती हुई कहती हैं कि "आज लेखन की शक्ति के बारे में सोचती हूं तो आश्चर्य होता है। आदमी यदि निरन्तर लिखता रहे तो कितनी आपदाओं - विपदाओं को सहज ही दरकिनार कर सकता है।..... मैं ही अपनी दुखती रगों और खाली कोनों को अपने लेखन से पूरा करने की कोशिश करती रहती थी।"[2]

स्त्री विमर्श उन सभी पौराणिक ग्रंथों, रीति - रिवाजों, साहित्य, इतिहास, मिथक, धार्मिक - सांस्कृतिक बंधनों आदि को चुनौती देता है जो एकांगी हैं। यह विमर्श वर्ग, वर्ण, जाति, नस्ल, क्षेत्र से ऊपर उठकर स्त्री के दमन, शोषण तथा उत्पीड़न का विरोध करता है।

विश्व के लगभग सभी देशों में स्त्री लेखन पर चर्चा से स्त्री विमर्श को जगह मिल रही है। 'हाशिये' को 'मुख्यधारा' में लाने की बात जोर शोर से उठने लगी है। पिछले कुछ समय में रचनात्मक स्त्री लेखन के बराबर तो नहीं पर पहले की तुलना में स्त्रियों के समीक्षात्मक लेखन में बढ़ोतरी हुई है, स्त्री आलोचकों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि हुई है। उबाऊ, नीरस, एकरस, घरेलू तथा दोयम दर्जे का कहलाया जाने वाला स्त्री लेखन स्त्री आलोचना की बौद्धिकता के साथ सिर उठाकर खड़ा होने लगा है। स्त्री आलोचना में सक्रिय प्रदर्शन ने स्त्री साहित्य पर लगे बेबुनियाद आरोपों को खारिज करने का काम किया है।

भारतीय साहित्य में स्त्री आलोचना के क्षेत्र में बांग्ला में निरुपमा देवी, महाश्वेता देवी, ज्योतिर्मयी देवी, विनोदिनी दास। मराठी में ताराबाई शिंदे, काशीबाई कानेटकर, रमाबाई रानाडे, उर्दू में रुकैया सखावत हुसैन, इस्मत चुगताई, कुर्रतुल ऐन हैदर आदि स्त्री आलोचकों ने आलोचना

---

[1] चन्द्रा सदायत, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कविताएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ -12

[2] मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 67

को समृद्ध किया। हिंदी में सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, आशारानी व्होरा, नीरा देसाई आदि ने कथा लेखन के साथ - साथ आलोचनात्मक साहित्य के द्वारा स्त्री - विमर्श की परम्परा को मजबूत किया। स्त्री विमर्श की इस परम्परा को आगे बढ़ाया अनामिका, प्रभा खेतान, कुसुम अंसल, अर्चना वर्मा, कात्यायनी, मृणाल पाण्डेय, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, सरला माहेश्वरी, क्षमा शर्मा, मनीषा पाण्डेय आदि ने। इन लेखिकाओं द्वारा रचित साहित्य में स्त्री विमर्श को देखते हुए उसे 'पश्चिम की देन' कहना बेमानी लगता है।

अनामिका द्वारा रचित पुस्तक 'स्त्रीत्व का मानचित्र' ने हिंदी में स्त्री - विमर्श की सैद्धांतिकी के निर्माण में योगदान दिया है। स्त्री आंदोलन को ऐतिहासिक, पौराणिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का गम्भीर प्रयास अनामिका ने किया है। स्त्री विमर्श से जुड़े पश्चिमी पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए इस पुस्तक में अनामिका ने पश्चिमी तथा भारतीय संदर्भों में स्त्रियों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

कात्यायनी की पुस्तक 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' अलग - अलग समय पर उनके लिखे लेखों का संग्रह है। जिसमें इतिहास - बोध को वैज्ञानिकता तथा तार्किकता के साथ प्रस्तुत कर लेखिका ने स्त्री - विमर्श के जटिल सवालों के विविध पक्षों को खोलकर रखा है। स्त्रियों को संगठित करने और आंदोलन की कार्यवाहियों में शामिल कात्यायनी ने व्यावहारिक स्त्री लेखन किया है। स्त्री मुक्ति के प्रश्न को समग्रता के साथ उठाते हुए इसके सामाजिक - सांस्कृतिक पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है। मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी कात्यायनी स्त्री मुक्ति को सिर्फ आर्थिक स्थितियों के परिवर्तन में ही नहीं देखती बल्कि सामाजिक संरचना के बदलाव को स्त्री मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण मानती हैं।

मृणाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तकों 'स्त्रीः देह की राजनीति से देश की राजनीति तक (1987)' तथा 'परिधि पर स्त्री (1996)' द्वारा स्त्री विमर्श में एक नया अध्याय जोड़ा है। इन्होंने ग्रामीण तथा शहरी, घरेलू तथा कामकाजी महिलाओं के शोषण - उत्पीड़न, उलझनों संघर्षों आदि को वैचारिक धरातल प्रदान किया है। उनका कहना है कि स्त्री की स्थिति में बदलाव सिर्फ नारों या

भाषणों से नहीं आ पाएगा बल्कि स्त्री के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाने से ही यह संभव है। सामाजिक मर्यादाओं एवं धारणाओं का पर्दाफाश करते हुए लेखिका ने स्त्री विमर्श को सार्थक जमीन प्रदान की है।

क्षमा शर्मा के लेखों का संग्रह 'स्त्री का समय' दुख और आक्रोश को व्यक्त करता है। तीसरी दुनिया के देशों के महानगरिय जीवन में मध्यवर्गीय स्त्री की बदलती छवि का चित्रण पुस्तक में है। भ्रूण हत्या, दहेज, घरेलू हिंसा, संस्कार, नैतिकता, मर्यादा, फैशन शो, सौंदर्य प्रतियोगिता आदि में उलझी तथा परिवार एवं विवाह संस्था में फंसी स्त्री की स्थिति को क्षमा शर्मा ने उजागर किया है।

सरला महेश्वरी ने अपनी पुस्तक 'नारी प्रश्न (1998)' में स्त्री आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के आधार पर स्त्री की सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन किया है। पुस्तक में स्त्रीवादी विमर्श एवं मार्क्सवादी विचारधारा पर सूक्ष्मता से विस्तारपूर्वक चर्चा है। पश्चिमी स्त्रीवादी विमर्श पर ही लेखिका का अधिक ध्यान रहा है।

प्रभा खेतान की पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री' में विश्वस्तर पर चल रहे स्त्रीवादी आंदोलनों के सामने आ रही चुनौतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। भारत में हो रहे आर्थिक, राजनैतिक एवं औद्योगिक बदलावों के संदर्भ में स्त्री आंदोलन की स्थिति एवं स्वरूप पर पुस्तक में चर्चा की गई है।

इनके अलावा हिंदी में सुधा सिंह की पुस्तक 'ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ', मृदुला गर्ग की 'चुकते नहीं सवाल', अर्चना वर्मा की 'अतीत होती सदी में स्त्री का भविष्य', नासिरा शर्मा की 'औरत के लिए औरत', मैत्रेयी पुष्पा की 'खुली खिड़कियां' आदि स्त्री विमर्श की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

स्त्री विमर्श में पुरुष लेखकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जिनमें मुख्य रूप से अरविंद जैन की 'औरत होने की सजा', 'उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार','न्याय क्षेत्रे अन्याय क्षेत्रे', 'औरत अस्तित्व और अस्मिता' राजेन्द्र यादव की 'आदमी की निगाह में औरत', 'औरत

उत्तरकथा' आदि का नाम लिया जा सकता है। इन पुस्तकों के माध्यम से पुरुष लेखकों ने स्त्री विमर्श के सरोकारों को संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित किया है।

हिंदी की स्त्री आलोचना को सुमन राजे, निर्मला जैन तथा रोहिणी अग्रवाल ने समृद्ध किया। सुमन राजे ने 'इतिहास में स्त्री' तथा 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' लिखकर उस आधी आबादी की आवाज को जगह दी है जिसे पहले के इतिहासकारों ने गम्भीरता से नहीं लिया था। निर्मला जैन ने हिंदी आलोचना में नई स्थापनाएं प्रस्तुत करके स्त्री आलोचकों के प्रति बनी धारणा को तोड़ा। रोहिणी अग्रवाल ने हिंदी आलोचना को नया मुहावरा दिया। स्त्रीवादी आलोचना से भिन्न इन्होंने साहित्य के स्त्री से इतर विषयों पर भी अपनी तार्किक तथा बेबाक राय रखी, "स्त्रीवादी आलोचना का भी हिंदी में पिछले दो दशकों में तीव्र विकास हुआ है और पितृसत्ता, लैंगिक विभाजन, यौनिकता आदि शब्द व्यापक पैमाने पर आलोचना में लोकप्रिय हुए हैं।"[1] स्त्रीवादी आलोचना ने स्त्री लेखन के ऐतिहासिक महत्त्व को पहचानने के साथ - साथ स्त्री विरोधी लेखन की सीमाओं, पूर्वाग्रहों तथा पक्षपात को उजागर किया है।

स्त्री विमर्श के रूप में उठे साहित्यिक आंदोलन से पहले संकीर्ण समझ के साथ ही साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन होता रहा। लेकिन पिछले तीस - चालीस वर्षों में स्त्री की दुनिया में सूचना, संप्रेषण, संचार, प्रौद्योगिकी का प्रवेश हुआ तथा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक बदलावों ने स्त्री विमर्श को एक नई दिशा दी।

साहित्य की लम्बी परम्परा में स्थित स्त्री लेखकों का मूल्यांकन अब हिंदी आलोचना में होने लगा है। विदूषी गार्गी को अपने पति याज्ञवल्कय से भरी सभा में प्रताड़ना सहनी पड़ी थी। गार्गी का शास्त्रार्थ करना पुरुष को स्वीकार नहीं था, और इसी कारण उसे अपमानित होना पड़ा। 'गाथा सप्तशती' में उल्लेखित स्त्री कवियों रेवा, ससिप्पक्ष, गोहा तथा 'सुतपिटक' में विभिन्न वर्गों से आई 72 बौद्ध भिक्षुणियों को पर्याप्त स्थान हिंदी आलोचना ने प्रदान नहीं किया। भक्तिकाल की विद्रोही तथा चेतनासंपन्न लेखिकाओं दक्षिण की अण्डाल, अक्कमहादेवी, महाराष्ट्र की गोदा,

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 45

बहिनाबाई, कश्मीर की ललद्य मिथिला की चंद्रकला तथा राजस्थान की मीराबाई आदि को उनके समय तथा बाद में भी या तो चरित्रहीन स्त्रियों के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा या रहस्यवादी भक्तिभावना का लेप करके उनके विद्रोही स्वर को दबाया जाता रहा। इन लेखिकाओं के जीवन का त्रास ही इनकी मुक्ति तथा लेखन का आधार बना। पग घुंघरु बांध नाचने वाली मीरा राजपूत परिवार में स्त्री पर लगी पाबंदियों को चुनौती देती हुई मर्यादा को तोड़ने का क्रांतिकारी काम करती है। 'राणा जी रुठयो म्हारा कायी कर लीसे, मोहे तो गुण गोविंद का गास्या हो मायी' कहकर मीरा धार्मिक स्वतंत्रता का वरण करती हुई राजसत्ता को ललकारती है। स्त्री विमर्श ने मीरा के असली रूप को पहचाना। मीरा के संदर्भ में हिंदी आलोचक सुमन राजे कहती हैं, "मीरा जैसा विद्रोही व्यक्तित्व कबीर के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ। इसलिए उसके समय ने उसे विष का प्याला दिया और हमारे समय ने फुटकर खाता।"[1] हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाली पहली महिला लेखक सुमन राजे ने स्त्री दृष्टिकोण से इतिहास लेखन करते हुए मीरा का सच्चा मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

ब्रिटिशकालीन महिला लेखकों की आत्मकथाओं में चेतना, व्यंग्य तथा सामाजिक बोध अधिक प्रखर रूप में सामने आया है। नटी विनोदिनी की आत्मकथा 'आनार कथा (1863 - 1941)', लक्ष्मीबाई तिलक का स्मृति चित्र, पण्डिता रमाबाई की 'स्त्री बोध नीति (1882)' तथा 'द हाईकास्ट हिन्दू वुमन (1887)', अज्ञात हिंदु औरत की 'सीमंतनी उपदेश (1882)', रुकय्या सकावत हुसैन की 'सुल्ताना का सपना (1905)' तथा 'अवरोध वासिनी (1929)' आदि महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं, जो अपने समय की रुढ़ियों का विरोध करती हैं तथा आडम्बरों का पर्दाफाश। ये वो दस्तावेज हैं जिनके ऐतिहासिक महत्त्व को उजागर ही नहीं किया गया। स्त्री विमर्श के उभार ने इन रचनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन प्रारम्भ किया।

[1] वागर्थ, अंक - 24, मार्च 1997, सुमन राजे के लेख 'आधा इतिहास ही गायब है', पृष्ठ - 56

3.1.4 स्त्री साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

आज का स्त्री लेखन पुरुष वर्चस्व को चुनौती देते हुए स्त्री के लिए विकास के समान अवसर, उन्मुक्त प्रेम, देह की आजादी की मांग करता है तथा अनुभव के संसार को लेखन में उकेरता है। इन विषयों को हिंदी आलोचना ने गम्भीरता से लिया।

प्रेम का विषय साहित्य में हमेशा से मौजूद रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र तथा रीतिकालीन साहित्य का केन्द्रीय विषय प्रेम रहा है। प्रेम एक सुखद अहसास है और वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य भी। लेकिन स्त्री द्वारा अभिव्यक्त प्रेम पर श्लीलता - अश्लीलता के सवाल लगातार उठते रहे हैं। नैतिक संरचनाओं में घड़े गए समाज में स्त्री के खुलेपन को सहने और स्वीकार करने की हिम्मत नहीं है और इसीलिए साहित्य में स्त्री द्वारा अभिव्यक्त प्रेम को भक्ति, रहस्य तथा अध्यात्म का वर्क चढ़ाकर पेश किया जाता रहा। आज की हिंदी आलोचना ने सामाजिक दायरों को खींचकर थोड़ा खोल जरुर दिया है और अब लेखन में प्रेम की अभिव्यक्ति को स्पष्ट तौर पर समझा जाने लगा है। इसे स्त्री लेखकों की उपलब्धि ही कहा जा सकता है कि वे नैतिकता की मोहर लेकर घूमने वाले आलोचकों की परवाह छोड़कर प्रेम को सच्चे अर्थों में अभिव्यक्त करने लगी है। प्रेम का विषय स्त्री आलोचना का केंद्रीय विषय बनने लगा है।

उन्मुक्त प्रेम के साथ देह की आजादी का सवाल स्त्री विमर्श का प्रमुख सवाल बना है। आलोचकों तथा विमर्शकारों का मानना है कि स्त्री मात्र दैहिक चिंतन के चक्रव्यूह में फंसने से स्त्री की आजादी संभव नहीं। उसे दैहिक आजादी के साथ - साथ आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आजादी की भी आवश्यकता है और इसी से उसके अस्तित्व की पहचान और व्यक्तित्व का विकास होगा। स्त्री मात्र देह नहीं है, उसका संपूर्ण अस्तित्व है और यह अस्तित्व उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आजादी से ही उसे प्राप्त हो सकता है।

स्त्री लेखन स्त्री के लिए विकास के समान अवसरों की मांग करता है। स्त्री लेखकों का मानना है कि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर ही स्त्री अपने अधिकारों की मांग कर सकती है। आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ - साथ उसे बाहर निकलने के अवसर भी मिलेंगे जिससे उसे एक

खुला फलक मिलेगा जो उसके व्यक्तित्व का विकास करेगा। स्त्री लेखन में विकास के समान अवसरों पर विशेष जोर दिया जा रहा है जिसे आलोचना गम्भीरता से रेखांकित कर रही है।

विचार की दुनिया में एक विचार दूसरे पर प्रभावी रहता है तथा सांस्कृतिक, राजनैतिक नेतृत्व स्थापित करता है। विचारों के इस नेतृत्व स्थापन को ग्राम्शी ने वर्चस्व (Hegemony) कहा है और किसी भी समाज को समझने के लिए इस वर्चस्व को समझना जरुरी माना। पुरुष का वर्चस्व समाज में इसलिए कायम हो सका क्योंकि वह अपने आप को व्यक्ति, व्यवस्था एवं विचार का प्रतीक मानता रहा तथा स्त्री को वस्तु व भोग्या। स्त्री से अलग हर चीज की व्याख्या, विश्लेषण तथा महिमा मण्डन पुरुष ने किया और उसे संगठित करने का प्रयास किया। वर्ग - विभक्त समाज में शोषित - पीड़ित स्त्री की ज्ञान को उपेक्षा की गई या विकृत व्याख्याएं करके उसे मुख्यधारा के साहित्य में समाहित करने के प्रयास हुए। स्त्री लेखन तथा आलोचना ने हाशिये पर पड़ी स्त्री की खबर ली तथा वर्चस्व के सवाल को नए सिरे से समझने का प्रयत्न शुरु हुआ। अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए स्त्रियों को पारिवारिक, सामाजिक तथा नैतिक जिम्मेदारियों के हवाले से पितृसत्ता की बेड़ियों में जकड़ा जाता रहा जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में हुई। समकालीन स्त्री साहित्य ने इन दमनकारी मूल्यों का विरोध किया है। स्त्री लेखन अपने आप में ही पुरुष वर्चस्व के लिए चुनौती है जिसकी आलोचना के विकास से पुरुष लेखन के अंतर्विरोध भी सामने आने लगे हैं। पुरुष वर्चस्व के अधीन सामाजिक संरचना में आलोचना स्त्री की अस्मिता तथा अस्तित्व को ढूंढने का सशक्त प्रयास कर रही है। 'औरत के हक में' सोचने, बोलने और लिखने का बढ़ रहा है।

आलोचना स्त्री लेखन की अलग भाषा की बात करती है जिसे स्त्रीभाषा कहा जाता है। 'मैन मेड लैंग्वेज' में स्पेण्डर ने स्त्रीभाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि "स्त्रियां इस बात से वाकिफ हैं कि पुरुष श्रेष्ठता एक मिथ है और वे इस ज्ञान को कई स्तरों पर बरतती है। पुरुष हमेशा से इस सामाजिक स्थिति में रहे हैं कि वे पुरुष श्रेष्ठता का मिथ निर्मित कर सकें और इसे स्वीकार भी करवा सकें। प्रत्येक दिन हम अपने संसार का निर्माण पुरुष नियमों के अनुसार करते हैं और इन नियमों के निर्माण का अहम हिस्सा भाषा है। भाषा इस दुनिया को वर्गीकृत और व्यवस्थित करने

का माध्यम है।"[1] सुधा सिंह भाषा की निर्मिति पर सवाल उठाती हुई कहती हैं कि "हम बड़े आराम से कहते हैं कि भाषा सामाजिक निर्मिति है। भाषा का जन्म जैसा कि अन्सर्ट फिशर ने माना है कि श्रम की सामूहिक प्रक्रिया में हुआ, तो सवाल किया जाना चाहिए कि इस प्रक्रिया में स्त्री की भागीदारी थी कि नहीं?..... भाषा अगर सामाजिक निर्मिति है तो निर्माण के बाद की भी लड़ाई हुई होगी। इसी कारण श्रम के क्षेत्र में स्त्रियों, कालों और मजदूरों की मौजूदगी के बाद भी भाषा में इनकी उपस्थिति गौण है। इन्हें ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ा जो अपनी नहीं है। स्त्रियां पुरुष की भाषा को 'मालिक की भाषा' में बोलने के लिए बाध्य होती हैं।..... कोई भाषा पुंसवादी है इसे बतलाने के लिए शब्दों की बहुतायत और अर्थ की सकारात्मकता दो प्रमुख आधार हैं। एक व्यवस्था के रूप में भाषा लैंगिक गैरबराबरी पर टिकी है। उन पदबंधों के निर्माण में स्त्री की क्या भूमिका है जो उन्हें तुच्छ, वंचित और छोटा बनाती है।"[2] स्त्री विमर्शकार व्याकरणिक पाठ्यक्रमों को सामने रखकर सामाजिक संरचना में स्त्री - पुरुष की भूमिका में अंतर को रेखांकित करते हैं। उनका मानना है कि व्याकरण के आधार पर ही संस्थाओं के पाठ्यक्रम तैयार होते हैं और वहीं से समाज की पुरुषवादी और अभिजात मानसिकता तय होती है।

साहित्य लेखन में दृष्टि के निर्माण के संदर्भ में दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार साहित्यकार का वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, जाति, रंग, परिवेश आदि के आधार पर उसकी दृष्टि का निर्माण होता है। जबकि दूसरे मत के अनुसार साहित्यिक दृष्टि या चेतना को वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, जाति, रंग, परिवेश आदि से जोड़कर देखना गलत है। साहित्यकार का भाव बोध, जीवन दृष्टि तथा चेतना ही लेखन का आधार होते हैं। इस मत के अनुसार चेतना संपन्न साहित्य की रचना स्त्री तथा पुरुष दोनों कर सकते हैं तथा किसी भी साहित्य का वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, परिवेश आदि से उपर उठकर चेतना के आधार पर समग्र मूल्यांकन होना चाहिए। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में समग्र मूल्यांकन की यह धारणा भ्रम पैदा करती है। ऐसे में स्त्री आलोचना स्त्री - साहित्य के अलग मूल्यांकन की मांग करती है। स्त्री अपनी भूमिका पहचानकर आज पितृसत्ता के नकार का साहस

---

[1] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 140

[2] वही, पृष्ठ - 144 - 145

दिखा रही है। स्त्री के विरोध का स्वर साहित्य में गूंजने लगा है, स्त्री लेखन के विस्तार के साथ ही साहित्य में स्वतंत्र 'स्त्री दृष्टि' की मांग उठने लगी है, "सच्चाई यही है कि स्त्री और पुरुष दोनों के लेखन में भावबोध, जीवन दृष्टि और चेतना के स्तर पर जो प्रकट होता है वही उनकी रचनाशीलता में भी अभिव्यक्ति पाता है और उसी फर्क की पहचान साहित्य की आलोचना में स्त्री दृष्टि की पहली शर्त है।"[1] स्त्री लेखन एवं स्त्रीवादी आलोचना ने स्त्री की दृष्टि को जगह दी है।

स्त्री लेखकों का मानना है कि स्त्री के स्वत्व, चिंताओं व आकांक्षाओं को स्त्री ही ज्यादा गहराई से समझ व व्यक्त कर सकती है। धूमिल की पंक्ति 'लोहे का स्वाद घोड़ा ही जानता है जिसके मुहं में लगाम होती है।' इस संदर्भ में याद की जानी चाहिए। स्त्रियों के अहम सवाल पुरुषों के लिए सतही, व्यक्तिगत तथा महत्त्वहीन हो सकते हैं। स्त्री विचारकों का मानना है कि पुरुष लेखकों का स्त्री लेखन मात्र अनुमान पर आधारित है और अनुमान के आधार पर सच्चाई सामने नहीं आ सकती। महादेवी वर्मा के शब्दों में इसे समझना ठीक रहेगा "पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श तो बन सकता है, परंतु अधिक सत्य नहीं। विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं, पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत - बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।"[2] आलोचना स्त्री के अनुभव संसार को समझते हुए उसे अलग रुपों में व्याख्यायित कर रही है, जिसमें समय तथा समाज की असलियत को पहचान कर संभावनाओं को तलाशा जा रहा है।

3.2 दलित विमर्श

पिछले कुछ वर्षों में दलित विमर्श भारतीय तथा हिंदी साहित्य के पटल पर प्रखरता से उपस्थित हुआ है। सदियों से भेदभाव का शिकार रहे शोषित - उत्पीड़ित दलित वर्ग में सामाजिक संरचना के विरुद्ध आंदोलन हुए। जिनसे दलित साहित्य की स्वतंत्र धारा का जन्म हुआ। मराठी से शुरु हुए दलित आंदोलन की हिंदी में समृद्ध परंपरा बनी। दलितों के जीवन, मुद्दों तथा संघर्षों पर

---

[1] डा. जगदीश्वर चतुर्वेदी (सम्पा.) स्त्री - अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कलकता, चन्द्रा सदायत के लेख 'साहित्य में स्त्री दृष्टि' लेख से, पृष्ठ - 195

[2] महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 89

विविध आयामी साहित्य व चिंतन हुआ है, जिसने भाषा, संस्कृति, धर्म तथा सौंदर्यशास्त्र के सवालों को उठाया है।

3.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

दलित का अर्थ है मसला या कुचला हुआ, दबाया हुआ। दलित के लिए शूद्र, अतिशूद्र, अस्पृश्य, अत्यंज, चाण्डाल आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। दलित शब्द किसी रूढ़ अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि समय - समय पर इस शब्द के अर्थ बदलते रहे हैं। दलित शब्द साहित्य के साथ - साथ सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में सशक्त आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जिसे विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है।

दलित आंदोलन के पुरोधा डा. भीमराव आम्बेडकर ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुए अस्पृश्य, आदिवासी और जरायम पेशा जातियों को इसमें शामिल किया। मराठी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार नामदेव ढसाल ने दलित को परिभाषित करते हुए उसमें समस्त पीड़ितों - वंचितों को शामिल किया है। सामाजिक - सांस्कृतिक भेदभाव व आर्थिक शोषितों को दलित की श्रेणी में शामिल करते हुए उन्होंने लिखा है कि "अनुसूचित जाति, जनजाति, बौद्ध, श्रमिक जनता, मजदूर, भूमिहीन, खेत - मजदूर और आदिवासी दलित हैं।"[1]

नारायण सुर्वे सिर्फ पिछड़ी जातियों को ही दलित नहीं मानते उनका कहना है कि "दलित शब्द की मिली - जुली परिभाषाएं हैं, इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वो सभी दलित हैं।"[2]

हिंदी साहित्य के दलित लेखक व चिंतक मोहनदास नैमिशराय को, "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है लेकिन दोनों में भेद है। दलित के अन्तर्गत

---

[1] शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 93

[2] नारायण सुर्वे, हंस (अक्तूबर 1992), पृष्ठ - 23

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है।"[1]

डा. एन. सिंह के अनुसार, "दलित का अर्थ है जिसका दलन, शोषण और उत्पीड़न किया गया हो, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक धरातल पर।"[2] दलित - चेतना को मात्र दलित - जीवन के चित्रण के अर्थ में देखना इसके ऐतिहासिक महत्त्व को कमतर करना है, "दलित का शुरूआती अर्थ बहुजन का ही अर्थ देता था, लेकिन कालांतर में मीडिया और जनमानस की दृष्टि में यह भारतीय समाज के वंचित एवं हाशिये की जातियों - उपजातियों के रूप में जाना जाने लगा।"[3]

विद्वानों के विभिन्न मतों पर विचार - विमर्श करने के उपरांत कहा जा सकता है कि दलित की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। व्यवस्था के आर्थिक पीड़ितों की श्रेणी में तो सभी शोषित - दलित - वंचित हैं ही लेकिन सामाजिक तौर पर भेदभाव के पीड़ितों के विशेष अनुभव हैं, जो दूसरे पीड़ितों से जातिगत पीड़ितों को दूर कर देते हैं। यह भी सही है कि इस पीड़ा को केवल सामाजिक तौर पर पीड़ित ही अनुभव कर सकता है।

3.2.2 दलित आंदोलनः सामान्य परिचय

दलित चिन्तन व आन्दोलन ने अपनी विचारधारा का निर्माण ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रमुख घटक वर्ण - व्यवस्था के विरोध में किया है। ब्राह्मणवाद ने वर्ण - धर्म के आधार पर दलितों को ज्ञान तथा सम्पत्ति से हमेशा दूर रखा, इन्हीं वर्चस्वी मूल्यों को चुनौती देकर दलित - दृष्टि का विकास हुआ है। दलित चिंतकों के अनुसार अतीत के लोकायत से दलित विमर्श की परम्परा का गहरा सम्बन्ध है। बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई यह परम्परा मध्यकालीन दलित संतों कबीर, रैदास, नानक, दादू दयाल तक पहुंची जिन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था प्रहार किया।

---

[1] नया पथ (अंक - 24 - 25, जुलाई - सितम्बर - 1997), पृष्ठ - 10

[2] डा. एन. सिंह, हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर दलित साहित्यकारों के साहित्य में, परम्परा, संवेदना एवं शिल्प, पृष्ठ - 62

[3] दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, हाशिये का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 286

आधुनिक काल में समाज सुधार के दौरान जोतिबा फुले, आम्बेडकर, नारायणगुरु, पेरियार के आन्दोलनों को वर्तमान दलित - चिंतन व आन्दोलन की पृष्ठभूमि, परम्परा व स्रोत के तौर प रदेखा जा सकताहै। इन्होंने अपनी रचनाओं व जीवन संघर्षों से दलित आबादी के शोषित, पीड़ित, वंचित वर्ग को मुक्ति - संघर्ष की दिशा प्रदान की।

1873 में जोतिबा फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। अपनी क्रांतिकारी पुस्तक 'गुलामगिरी' में उन्होंने ब्राह्मणवादी मूल्यों और षडयन्त्रों का विरोध किया, "मनुष्य को आजाद होना चाहिए, यह उसकी बुनियादी जरुरत है..... आजाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवीय अधिकार प्राप्त कर लेता है।"[1] जोतिबा फुले ने धार्मिक - पाखंडों, नियतिवाद तथा रुढ़िवाद का विरोध किया, सांस्कृतिक वर्चस्व को चुनौती दी।

20वीं सदी में दलित - चिंतन व आन्दोलन को डा. भीमराव आम्बेडकर ने नई दिशा दी। डा. आम्बेडकर ने 'शूद्र कौन', 'अस्पृश्य', 'जाति विनाश', 'बुद्ध और उनका धम्म' आदि पुस्तकों में दलितों की स्थिति में बदलाव की जरुरत पर बल दिया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उन्होंने दलित मुक्ति के सवाल को राष्ट्रीय सवाल के रूप में उभारा। वे न केवल राजनीतिक सत्ता बल्कि सामाजिक परिवर्तन को भी जरुरी मानते थे। उनका मानना था कि भारत में जाति - प्रथा के विनाश के बिना कुछ भी सकारात्मक संभव नहीं है। डा. आंबेडकर ने स्वयं को भारत की वैज्ञानिक चिंतन की परंपरा से जोड़ा। इसलिए उन्होंने बुद्ध, कबीर व फुले को अपना गुरु माना। डा. आम्बेडकर ने समता, स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व का भाव फ्रांसिसी क्रांति से न लेकर बुद्ध से ग्रहण किया। उनका चावदार तालाब से पानी पीना व मनुस्मृति का दहन ऐसी घटनाएं थी जिन्होंने इतिहास की गति, दिशा और समाज की चेतना को प्रभावित किया।

ज्यों - ज्यों आम्बेडकर सामाजिक बदलाव के संघर्ष से जुड़ते गए त्यों - त्यों उनका लोकतंत्र में विश्वास बढ़ता गया। राजनीति, समाज, अर्थ व धर्म संबंधी उनके चिंतन का यही केन्द्रीय तत्व रहा। 18 जनवरी 1943 को महादेव गोबिंद रानाडे की 101वीं जयन्ती पर दिए गए

---

[1] एल. जी. मेश्राम, विमल कीर्ति (अनुवादक, सम्पा.), महात्मा जोतिबा फुले रचनावली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 138

भाषण में ('रानाडे, गांधी और जिन्ना' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित) आम्बेडकर ने कहा कि "लोकतंत्रात्मक शासन के लिए लोकतंत्रात्मक समाज का होना जरूरी होता है। प्रजातंत्र के औपचारिक ढांचे का कोई महत्त्व नहीं है और यदि सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह वास्तव में अनुपयुक्त होगा। राजनीतिक लोगों ने यह कभी भी महसूस नहीं किया कि लोकतंत्र शासन तंत्र नहीं है। यह वास्तव में समाज तंत्र है।"[1] आम्बेडकर ऐसी स्थितियां चाहते थे जो लोकतंत्र के अनुकूल हों।

डा. आम्बेडकर ने उत्पीड़न की प्रक्रियाओं व उनके खिलाफ संघर्ष के तरीकों पर अपनी रचनाओं में विस्तार से लिखा, "अस्पृश्यों को जिन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनमें कम से कम इंसानों का दर्जा पाने की समस्या के बाद दूसरी समस्या भेदभाव पूर्ण व्यवहार की आती है। जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहां अस्पृश्य और हिंदुओं की एक - दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा न होती हो और जिसमें अस्पृश्यों के साथ भेदभाव न किया जाता हो। इसके कारण उन्हें प्रतिक्षण किसी न किसी का, बेरोजगारी का, दुर्व्यवहार का, उत्पीडऩ आदि का डर बना रहता है। यह असुरक्षा की जिंदगी होती है।"[2]

डा. आम्बेडकर ने संविधान निर्माण करते हुए कहा कि "26 जनवरी,1950 को हम अन्तर्विरोधों या विसंगतियों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में तो हम समानता स्थापित करेंगे लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में हम असमानता ही बनाए रखेंगे। राजनीति में हम 'एक व्यक्ति, एक वोट और एक मूल्य' के सिद्धांत को मान्यता देंगे। लेकिन सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम अपने प्रचलित और पारंपरिक सामाजिक - आर्थिक ढांचे की वजह से 'एक व्यक्ति और एक जैसा मूल्य' के सिद्धांत को नकारते रहेंगे।"[3] जोतिबा फुले तथा आंबेडकर की विचारधारा से ऊर्जा लेकर दलित आंदोलन का विकास हुआ है, जिसके आधार पर इस आंदोलन ने अपनी सैंद्धांतिकी निर्मित की।

---

[1] डा. सुभाष चन्द्र (सम्पा.), आम्बेडकर से दोस्तीः समता और मुक्ति,इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 150

[2] आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाग्मय (खण्ड - 9), डा. आम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, पृष्ठ - 169

[3] प्रदीप गायकवाड़ (सम्पा.), मा. रामगोपाल आजाद (अनु.), डा. बाबा साहेब आम्बेडकर के महत्त्वपूर्ण भाषण एवं लेख, समता प्रकाशन, नागपुर, पृष्ठ - 118

3.2.3 दलित साहित्य एवं आलोचना

दलित साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। जिसमें दलित - मुक्ति के मुद्दों को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। दलित - विमर्श व आलोचना यहीं से खुराक लेकर फली - फूली है। विमल थोराट दलित साहित्य पर बात करते हुए कहती हैं कि "दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्वयं' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह है एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।"[1] अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए दलित साहित्य ने परंपरागत सौंदर्यशास्त्र पर प्रश्नचिह्न लगाए। इस बहस से दलित विमर्श व आलोचना ने ठोस आकार ग्रहण किया है। दलित साहित्य पर बहुत से सवाल खड़े किए गए उनके उत्तर देने के दौरान ही दलित साहित्य का सौंदर्य - शास्त्र व आलोचना के मानदण्ड विकसित हुए हैं। हिंदी में दलित साहित्यकारों की लम्बी परम्परा है जिसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराजसिंह बेचैन, सुशीला टाकभौरे, दयानंद बटोही आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी में दलित साहित्य में मात्रात्मक तथा गुणात्मक वृद्धि हुई है। दलित साहित्य यथार्थ की बेखौफ अभिव्यक्ति है। दलित साहित्य ने हिंदी साहित्य में समाज के एक अलग पक्ष को खोलकर रखा है, "दलित साहित्य ने सामाजिक जीवन के उस अनछुए कोने को चित्रित करने का साहस दिखाया है जिसे हिन्दी के रचनाकारों ने अनदेखा किया।"[2]

दलित आत्मकथा दलित साहित्य की सबसे सशक्त विधा है जिसने दलित साहित्य को स्थापित किया है। दलित आत्मकथा स्वानुभूति की जमीन पर उपजा पौधा है जो दलित साहित्य को नया आयाम देता है। दलित आत्मकथा लेखकों द्वारा जीवन की सच्चाइयों को साहित्य जगत के सामने रखने पर जो खलबली मची है वह आत्मकथा की प्रामाणिकता को साबित करती है। दलित आत्मकथा एक व्यक्ति की आत्मकथा नहीं है बल्कि वह दलित जीवन तथा समाज का संपूर्ण चित्र है, "दलित आत्मकथाएं केवल उनके लेखकों के जीवन के तथ्यों - सत्यों, घटनाओं

---

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 64

[2] नामवर सिंह (सम्पा.)आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 105

का ब्यौरा देने वाली रचना नहीं हैं, बल्कि यह भारतीय समाज और विशेषकर हिंदी - भाषी क्षेत्र के हिंदू समाज में व्याप्त ऊंच - नीच, जातिगत पूर्वाग्रह एवं घृणा - हिंसा को उद्घाटित करने वाली रचनाएं हैं।"[1] हिंदी साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे', श्यौराजसिंह बेचैन की 'बेशक्त गुजर गया माली', दया पंवार की 'अछूत', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' तथा 'मणिकर्णिका', शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' आदि आत्मकथाओं ने साहित्यिक मिथकों तथा भ्रमों को तोड़कर ब्राह्मणवादी विचारधारा की अमानवीयता का यथार्थ प्रस्तुत किया है।

दलित आलोचना तटस्थ भाव से दलित लेखन की विस्तृत व्याख्या करती है। दलित आलोचना अनुभूति की प्रामाणिकता पर विशेष जोर देती है, "दलित आलोचना जीवन और उसके यथार्थ को मानवीय दृष्टिकोण से देखने की समर्थक है। किसी भी रचना को आशय और उसके उद्देश्य के साथ देखा जाना चाहिए। रचना की अन्तर्वस्तु और उसकी विधा यदि जीवन से जोड़ने के बजाय उसे अलग करती है तो साहित्य की भूमिका बदल जाती है। ऐसे विचारों से लैस आलोचक चाहे दलित हो या गैर - दलित, वे समाज में विघटन करने वाले, ब्राह्मणवादी परम्पराओं के पोषक तथा पुरुषवादी समाज के और संस्कृति के पक्षधर होते हैं जिनसे न साहित्य का भला होता है न समाज का। दलित साहित्य सम्पूर्णता में सामाजिक बदलाव की हिमायत करता है। इसीलिए उसने यह रास्ता चुना है।"[2] दलित आलोचना समाजशास्त्रीय दृष्टि से दलित साहित्य का मूल्यांकन करती है। कहीं - कहीं दलित आलोचक अपने जीवन के मात्र कटु अनुभव आलोचना में खोजते हैं। एक तरफ जहां यह आलोचना दलित लेखकों द्वारा रचित साहित्य को ही दलित जीवन का असली दस्तावेज मानती है वहीं दूसरी तरफ हिंदी के मुख्य लेखकों की रचनाओं (प्रेमचंद की कफन, नागार्जुन की हरिजन - गाथा, तथा निराला की कविताओं को निशाना बनाकर) में दलित विरोधी स्वर खोजती है।

---

[1] डा. सुभाष चंद्र, दलित आत्मकथाएः अनुभव से चिंतन, साहित्य उपक्रम, दिल्ली, पृष्ठ - 9

[2] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 105

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में दलित साहित्य एवं आलोचना के उदय के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सामाजिक अंतर्विरोध से उपजी विसंगतियों ने दलितों में गहन नैराश्य पैदा किया है। सामाजिक संरचना के परिणाम बेहद अमानवीय एवं नारकीय सिद्ध हुए है। सामाजिक जीवन की दग्ध अनुभूतियां अपने अंत में छिपाए दलितों के दीन - हीन चेहरे सहमे हुए हैं। इन भयावह स्थितियों के निर्माता कौन हैं? दोहरे सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी - दर - पीढ़ी ढोते रहने को अभिशप्त जनमानस की विवशता साहित्य के लिए जरुरी क्यों नहीं है? क्यों साहित्य एकांगी होकर रह गया है? ये सारे प्रश्न दलित साहित्य की अंतः चेतना में समायोजित है।"[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की मांग करते हैं तथा उसे सही ठहराते हैं। साहित्य की आलोचना के लिए निर्मित मानदंडों का वे पर्दाफाश करते हैं। उनका मानना है कि दलित आलोचना हिंदी आलोचना के परम्परागत स्वरूप को तोड़ती है । उन्होंने हिंदी आलोचना की प्रभुत्ववादी निर्मितियों को बदलते हुए सामंतवाद तथा वर्णवाद के खिलाफ रचित अस्मितावादी साहित्य के लिए अलग आलोचनात्मक निर्मिति की मांग की है।

दलित आलोचना भी अपने औजारों के साथ विकसित हुई है, हिंदी में दलित साहित्य चिंतकों की भी एक अच्छी खासी संख्या उभरी है। जिनमें मुख्यतः ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. धर्मवीर, कंवल भारती, डा. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, गेल ओमवेट, श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश कर्दम, रमणिका गुप्ता, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दयानंद बटोही, अजय नावरिया, डा. तेजसिंह, बजरंग बिहारी तिवारी, विमल थोराट आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन आलोचकों ने दलित साहित्य के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए बहुत से मुद्दों पर बात की है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की पुस्तक 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' दलित साहित्य पर लिखे गए लेखों का वैचारिक विश्लेषण करती है। इस पुस्तक में वाल्मीकि जी ने दलित साहित्य के

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 10

सौंदर्यशास्त्र के लिए अलग मानदंडों का निर्धारण किया है। वे दलित साहित्य के भाव तथा शिल्प को अलगाते हुए कहते हैं कि "दलित साहित्य की भाषा, बिम्ब, प्रतीक, भावबोध, परंपरावादी साहित्य से भिन्न है, उसके संस्कार भिन्न है।"[1] दलित आलोचना की मूलभूत आस्थाओं की खोज चेतना के बिंदुओं पर विस्तार से चर्चा करते हुए वाल्मीकि जी दलित साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

डा. धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में कबीर के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उन्हें एक दलित रचनाकार के रूप में व्याख्यायित किया है तथा कबीर को इसी रूप में देखने की बात की है। कंवल भारती ने 'दलित विमर्श की भूमिका' में दलित साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए दलित साहित्य के उदय के कारणों को खोजने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में भारती जी ने कम्युनिस्ट, आम्बेडकर तथा दलित आंदोलनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

डा. एन. सिंह द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दलित साहित्यः चिंतन के विविध आयाम' दलित आलोचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसके अलावा 'संतकवि रैदासः मूल्यांकन और प्रदेय' आकार में छोटी लेकिन विचार में बड़ी पुस्तक है। जिसमें एन. सिंह जी ने रैदास के काव्य पर आलोचनात्मक टिप्पणी की है तथा रैदास पर आरोपित भक्त कवि के आवरण को उतारकर उनके क्रांतिकारी रूप को हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। साहित्य और दलित साहित्य को अलगाने का काम इस पुस्तक में किया गया है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में, "हिंदी दलित साहित्य अपने खोल से बाहर आकर अपने पंख फड़फड़ा कर दबी आवाज में जब चहचहाने का प्रयास कर रहा था तब एन. सिंह ही वे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस नवजात शिशु को सहलाया, पोसा और उसे उड़ने की केवल विधाएं ही नहीं बताई बल्कि उसकी उड़ान के लिए एक अपने आकाश के निर्माण की योजना भी बनाई जहां वह मुक्त, निर्बाध, स्वतंत्र होकर उड़े और ऊंची उड़ान भरने का सपना पाल

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 10

सके।"[1] डा. एन. सिंह ने दलितों की बराबरी का सपना देखते हुए साहित्य के आकाश में उड़ान भरी, जिसने दलित साहित्य को समृद्ध किया।

मोहनदास नैमिशराय दलित चिंतन के महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को तत्परता से महसूस करते हुए अपने अनुभवों से जोड़कर अपने चिंतन को गहरा तथा व्यापक बनाया। दलित साहित्य तथा इतिहास के संदर्भ में उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया। आम्बेडकर से प्रभावित होने के कारण नैमिशराय जी दलितों के एकीकरण की बात बार - बार उठाते हैं। 'हिंदी दलित साहित्य' नामक पुस्तक में दलित साहित्य के इतिहास को राजनैतिक बदलावों के साथ पेश करके नैमिशराय ने साहित्य को समझने का एक अलग दृष्टिकोण प्रदान किया है।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी रचनाओं में दलितों में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा दुर्व्यसनों के प्रति चिंता जताई है तथा इसके लिए उन्हें लताड़ा भी है। सुशीला जी दलित साहित्य को उपेक्षा, अपमान तथा पीड़ा को व्यक्त करने वाला साहित्य मानती है। दयानन्द बटोही के साहित्य में परम्परागत रूढ़ मूल्यों का विरोध तथा जागृति का आगाज है। उनकी रचनाओं में दर्द तथा पीड़ादायक अनुभव प्रकट हुए हैं। बटोही जी दलित साहित्य को मानवतावाद की अभिव्यक्ति मानते हैं। आलोचनात्मक पुस्तक 'साहित्य और सामाजिक क्रांति' में वे साहित्य को क्रांति का सबसे बड़ा हथियार बताते हैं।

डा. तेजसिंह दलित साहित्य की बुनियाद की पहचान करवाते हैं। 'आज का दलित साहित्य' पुस्तक उनके दलित साहित्य संबंधी समय - समय पर लिखे गए लेखों का संग्रह है। इस पुस्तक में तेजसिंह कहते हैं कि दलित साहित्य का मूल्यांकन उसकी वर्गीय पहचान तथा सामाजिक सरोकारों से जोड़कर करने की जरुरत है। दलित साहित्य की सांस्कृतिक पहचान का सवाल उठाते हुए वे कहते हैं कि "दलित पिछड़े वर्ग की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान है, जो उन्हें सवर्ण संस्कृति से जोड़ती है। शुरु से ही श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मणवादी संस्कृति के वर्चस्व को

[1] डा. रमणिका गुप्ता (सम्पा.), हिंदी साहित्य में दलित संघर्ष के उन्नायक डा. एन. सिंह, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, भूमिका से

चुनौती दी है। आज यह संकट मूलतः सवर्ण संस्कृति और ब्राह्मणवादी संस्कृति की टकराहट की संस्कृति है।"[1]

विमल थोराट ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों 'हिंदी और मराठी के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में जाति वर्ग संघर्ष' तथा 'दलित साहित्य का स्त्रीवादी पाठ' आदि के माध्यम से दलित चिंतन तथा आलोचना को समृद्ध किया है। दलित जीवन के घिनौने तथा दर्दनाक पहलुओं पर चर्चा करते हुए विमल थोराट विद्रोह का कारण इन अनुभवों की असहनीयता तथा व्यवस्था में परिवर्तन न होने की स्थिति को मानती हैं। विमल जी सामंतवादी समाज व्यवस्था के दोगलेपन पर सीधा प्रहार करती हैं। दलित स्त्री के तीहरे शोषण की जिम्मेदार पितृसत्ता तथा धर्मसत्ता को विमल थोराट सीधे तौर पर चुनौती देती हैं। स्त्री की स्वाधीनता तथा मुखरता को वे जरुरी तथा शोषण से मुक्ति का हथियार मानती हैं।

दलित चिंतक गेल ओमवेट स्त्री तथा किसान आंदोलनों में सक्रिय रही हैं। उनकी आलोचनात्मक पुस्तकों में 'दलित वर्ग एण्ड डेमोक्रेटिक रेवॉल्यूशन' तथा 'दलित दृष्टि' दलित चिंतन की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। उनका संपूर्ण चिंतन वर्ग, जाति तथा लिंग भेद के मुद्दों को उठाता है। दलितों की दासता की आधार संस्कृति को वे धर्म द्वारा पोषित मानती हैं। हिंदु धर्म की पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ओमवेट सीधे तौर पर चुनौती देती हैं। ब्राह्मणवादियों द्वारा स्थापित नैतिक मानदण्डों को वे शोषण का मुख्य औजार मानती हैं। गेल ओमवेट जहां एक तरफ दलित आंदोलन की स्थिति, आकांक्षा, धर्म, संस्कृति तथा सत्ता से उसके संबंध, लिंग, जाति, वर्ग आदि के आधार पर पहचान तथा भाषा के सवालों को गहराई से समझती हैं वहीं दूसरी तरफ वे दलित मुक्ति के रास्ते शिक्षा, संगठन तथा संघर्ष में खोजती हैं।

बजरंग बिहारी तिवारी ने दलित चिंतन को मध्यकाल से जोड़ते हुए आधुनिक संदर्भ में उसकी व्याख्या की है। उनकी प्रमुख पुस्तकों में 'जाति और जनतंत्र दलित उत्पीड़न पर केन्द्रित (2015)', 'भारतीय दलित साहित्य आंदोलन और चिंतन (2015)' तथा 'दलित साहित्य एक

---

[1] डा. ललिता कौशल, हिंदी दलित साहित्य और चिंतन, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, पृष्ठ - 31

अन्तर्यात्रा' आदि हैं। तिवारी जी ने दलित साहित्य के उद्भव एवं विकास को विस्तार से वर्णित किया है। इन्होंने दलित कविता, कहानी तथा आत्मकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। दलित साहित्य की आलोचना करते हुए इन्होंने पक्षपात रहित दृष्टि अपनाई है जिसमें न किसी का संरक्षण है और न ही नकार। इन्होंने दलित साहित्य का अध्ययन सचेत तथा गम्भीर दृष्टि से किया है। डा. कमलानंद झा के शब्दों में, "इनकी आलोचना का वैशिष्ट्य यह है कि जहां वे दलित साहित्य की आवश्यकता, महत्त्व, प्रासंगिकता और व्याप्ति का संधान पूरे दमखम के साथ करते हैं, वहीं दलित साहित्य की सीमाओं और भटकावों पर उंगली रखने से परहेज नहीं करते हैं। आलोचना का नीर - क्षीर विवेक बजरंग की आलोचना दृष्टि का मुख्य तत्व है।"[1] तिवारी जी दलित साहित्य की अभिव्यक्ति के साथ साथ उसमें नकार की भी जरुरत महसूस करते हैं क्योंकि नकार के बिना बदलाव संभव नहीं है। इस नकार में तिवारी जी गुलामी, यंत्रणा, सवर्णवादी मूल्यों तथा मान्यताओं के नकार को दलित साहित्य की पहचान के रूप में देखते हैं।

3.2.4 दलित साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

सहानुभूति तथा स्वानुभूति का सवाल दलित साहित्य में शुरु से उठता रहा है, जिसमें दो तरह के सवाल है। पहला दलित लेखक ही दलित जीवन की पीड़ा तथा संघर्ष को सही रूप में व्यक्त कर सकता है और दूसरा यह कि गैरदलित लेखक भी अनुमान तथा संवेदना के आधार पर दलित जीवन की सच्चाइयों को व्यक्त कर सकता है। दलित लेखकों का मानना है कि सिर्फ दलित जीवन को जीने वाला, उनके दुखों को समझ तथा व्यक्त कर सकता है कोई दूसरा नहीं। यह बात काफी हद तक सही भी है क्योंकि अनुभव के आधार पर कही गई बात अनुमान के आधार पर कही गई बात से अधिक सच्ची तथा प्रभावी होती है। ज्योतिबा फुले का कहना है कि "गुलामी की यातना को जो सहता है वही जानता है और जो जानता है, वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं।"[2] सिर्फ कल्पना के आधार पर दलित लेखन नहीं किया जा सकता बल्कि स्वयं के भोगे हुए को व्यक्त करना ही सही मायने में दलित साहित्य

---

[1] डा. सुभाष चन्द्र (सम्पा.), देस हरियाणा, अंक - 5, मई - जून, 2016 में डा. कमलानंद झा के लेख से

[2] देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित - विमर्श, आरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, पृष्ठ - 200

है। जीवन के असली रूप को साहित्य में अनुभव के आधार पर ही व्यक्त किया जा सकता है अतः दलित साहित्य तथा आलोचना का स्वानुभूति को सहानुभूति से श्रेष्ठ मानना काफी हद तक सही है।

दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की मांग करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि एक साक्षात्कार में बजरंग बिहारी तिवारी के सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं कि "सौंदर्यशास्त्र पर लगातार काम करते रहने की जरुरत है। जो एक किताब या एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बनाया जा सकता है। यह एक सामूहिक विचार है, जो एक प्रक्रिया के तहत ही रचनात्मक रूप ग्रहण करेगा। दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की बुनावट पारम्परिक, पाश्चात्य और रामचंद्र शुक्ल की अवधारणाओं से निः सन्देह अलग होगी जो किसी भी रचना को सामाजिक संदर्भों से जोड़ता है। साहित्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन जरुरी है। दलित साहित्य, साहित्य और समाज के संबंधों को ज्यादा गम्भीरता से लेता है। सौंदर्यशास्त्र का जो स्वरूप बनेगा वही दलित साहित्य की ठीक - ठीक व्याख्या भी कर पाएगा।"[1] दलित साहित्यकार साहित्य को सामाजिक संदभों से जोड़कर ही उसे सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से सही मानता है न कि रस, अलंकार, छन्द आदि से लादकर।

साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की चली आती हुई परंपरा को वाल्मीकि जी उधार ली हुई परंपरा मानते हैं तथा एक अलग सौंदर्यशास्त्र की जरुरत महसूस करते हैं जिसमें केवल रस और आनंद की ही खोज न हो बल्कि यथार्थ जीवन की व्याख्या भी हो। उनका मानना है कि "हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र संस्कृत के काव्यशास्त्र के आधार पर तैयार किया गया है। जिसके तहत उसकी तमाम मान्यताएं सामंतवादी है, और उसके जीवन - मूल्य ब्राह्मणवादी विचारधारा से संचालित होते हैं। उस साहित्य में आनंद और रस की जो महत्ता स्थापित होती है उसे दलित साहित्य स्वीकार नहीं करता है।"[2]

दलित साहित्य में भाषा का सवाल केन्द्रीय सवाल रहा है। दलित साहित्य की भाषा कड़वाहट, संघर्ष तथा आक्रोश से भरी है, उसमें बेचैनी तथा अकुलाहट है। दलित साहित्य

---

[1] कथादेश, अंक - मार्च 2005, पृष्ठ - 67

[2] डा. एम. फिरोज अहमद (सम्पा.), वाग्मय, अंक - 10 - 11, जुलाई - सितम्बर - 2006

परम्परागत साहित्यिक भाषा से अलग ढांचे का निर्माण करता है। यथार्थ पर आधारित दलित साहित्य दलित परिवेश की भाषा को साहित्य में उतारता है, जिसमें दलितों के मुहावरे गालियों में पूरे होते हैं। बहुत से आलोचक दलित साहित्य की भाषा पर अश्लील तथा भद्दी भाषा का आरोप लगाते हैं। लेकिन दलित लेखकों तथा आलोचकों का मानना है कि भाषा अपने परिवेश से कटकर न तो अर्थपूर्ण हो सकती है और न ही सच्ची। दलित साहित्य के बिम्ब, प्रतीक तथा मिथक परम्परागत तथा काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक तथा परिचायक हैं।

दलित साहित्य प्रेम, सौंदर्य, भाव आदि में न फंसकर सीधे तौर पर व्यवस्था से प्रतिरोध करता है। दलितों की बदत्तर सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति को सुधारने के लिए यह संघर्ष को अनिवार्य मानता है। दलित चिंतक साहित्य को संघर्ष के एक कारगर औजार के रूप में देखते हैं और इसीलिए वे रचना के भीतर तथा बाहर संघर्षरत्त रहते हैं। दलितों की मुक्ति न्याय तथा बराबरी से ही संभव है। सामाजिक व्यवस्था में हीन समझे जाने वाले दलितों को अगर बराबरी की दृष्टि से देखे जाना शुरु कर दिया जाए तो उनकी बहुत सारी समस्याओं का निदान खुद - व - खुद हो जाएगा। इसलिए दलित चिंतक सामाजिक न्याय तथा बराबरी की बात लगातार अपने लेखन में उठाते हैं। क्योंकि भारतीय समाज में जाति सामाजिक भेदभाव का मुख्य आधार है। समाज में निम्न तथा उच्च जाति में जन्म के आधार पर ही व्यक्ति की हैसियत और उसके स्थान का निर्धारण होता है। जातीय भेदभाव तथा जातीय शोषण को समाप्त करने के लिए जाति व्यवस्था को तोड़ना जरुरी है। दलित साहित्य जाति व्यवस्था को खत्म करने की मांग करता है।

दलित मुक्ति के रास्ते सामाजिक बराबरी के साथ - साथ आर्थिक बराबरी में हैं। जमीन, नौकरियों तथा सम्पत्ति के साधनों में गैरबराबरी भी दलितों के शोषण का आधार है। दलित चिंतकों का मानना है कि सम्पत्ति के साधनों में बराबर की हिस्सेदारी दलितों की उन्नत्ति में सहायक होगी। माना जाता है कि आधुनिक युग में वैश्वीकरण तथा उदारीकरण ने दलितों के लिए अवसर उपलब्ध करवाएं हैं लेकिन उनकी स्थिति को देखकर इस भ्रम का जल्द ही पर्दाफाश हो जाता है। सम्पत्ति के साधनों में दलितों की हिस्सेदारी के लिए उनके लिए अलग से नीतियां बनाने की जरुरत है।

दलित आलोचना ने हिंदी में दलित साहित्य को समझने की एक अलग दृष्टि प्रदान की है। दलित साहित्य की आलोचना का अर्थ है दलित समाज की आलोचना। दलितों के जीवन तथा सामाजिक स्थिति को जाने बिना दलित साहित्य की आलोचना संभव नहीं है। दलित आलोचना पाठीय आलोचना नहीं है जिसमें परम्परागत पद्धतियों के आधार पर पाठ का मूल्यांकन कर दिया जाए। पारंपरिक मूल्यों के अलावा समाज तथा साहित्य की समझ के माध्यम से ही दलित साहित्य की आलोचना संभव है। दलित साहित्य का स्वरूप अन्य साहित्य से भिन्न है अतः दलित आलोचना के स्वरूप में भी भिन्नता अनिवार्य है। दलित आलोचना में कर्मकाण्ड, अंधविश्वास, पौराणिक मान्यताओं आदि के विरोध का साहस होना चाहिए। दलितों का मानना है कि दलित आलोचक ही दलित साहित्य की सही आलोचना कर सकता है क्योंकि रचनाकार और आलोचक का जीवन सत्य वहां एक जैसा होता है।

3.3 आदिवासी विमर्श

आदिवासी शब्द के लिए बनवासी, जनजाति, आदिम जाति, आदिमवासी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। संविधान द्वारा आदिवासियों को अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है, "आदिवासी शब्द उन समुदायों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है। दरअसल यह एक प्रशासनिक शब्द है जिससे किसी विशेष क्षेत्रीयता का संकेत मिलता है। इसका उद्देश्य किसी जनसमुदाय की विशिष्ट आनुवांशिक स्थिति से ज्यादा उसकी सामाजिक - आर्थिक स्थिति का परिचय देना है।"[1] आदिवासियों की पहचान क्या है, वे कौन हैं, यह उनके इतिहास नाम से जुड़ सवाल है। रमणिका गुप्ता ने 'बनवासी' तथा 'जनजाति' शब्द पर आपत्ति जाहिर की है "आदिवासियों की कोई जाति नहीं होती, तो वे 'जनजाति' कैसे बना दिए गए ? उन्हें 'कबीला' कहा जा सकता है लेकिन जाति नहीं। हमारे देश की धर्म और संप्रदायवादी शक्तियां लम्बे अरसे से वनवासी के रूप में उनका नया नामकरण कर और घर वापसी का नारा देकर, उनकी पहचान

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 29

मिटाने के लिए ही षडयन्त्र नहीं रच रही बल्कि धर्म के नाम पर आदिवासी को आदिवासी से लड़ाकर उनकी संस्कृति को अपने में समायोजित करने की चाल भी चल रही है।..... 'वनवासी' शब्द केवल उनके मूल एवं उदगम को ही चुनौती देता है, बल्कि उनके जंगली, पिछड़ा, असभ्य होने की ध्वनि भी देता है और उनके मूल निवासी होने के दावे को डिफ्यूज करता है।"[1]

3.3.1 अर्थ एवं परिभाषा

वी.एन. सिंह एवं जनमेजय सिंह ने आदिवासी जातियों को प्रागैतिहासिक तथा आदिम जातियों से संबंधित मानते हैं। जिनमें संथाल, भील आदि शामिल हैं। आदिवासी राष्ट्र को परिभाषित करते हुए यू.एन.ओ. के घोषणापत्र में लिखा गया है, "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत या अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने से पहले से ही, वहां रह रहे थे।"[2] शास्त्रों में आदिवासियों को बड़े - बड़े दांतों, सींगों, पूंछ वाले कहा गया है। आदिवासियों को सभ्यता - संस्कृति से बेदखल किया गया, लेकिन उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखा। जंगल में अपनी संस्कृति के साथ वे आत्मसम्मान के साथ जीते लेकिन उनकी सांस्कृतिक - सामाजिक संरचना पर खतरा मंडराने लगा, "महाभारत काल या उससे पहले भी आर्यों ने उन्हें सभ्यता से बहिष्कृत कर जंगलों में ढेल दिया था, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद दखलंदाजी का ढंग बदल गया,..... दरअसल आदिवासियों के पास जंगल और जमीन न हो तो उस आदिवासी की पहचान ही खत्म हो जाती है। अंग्रेजों ने और आजादी के बाद सरकारों ने आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से बेदखल ही किया है।..... पहले वे जंगल के राजा थे अब वे लकड़ी - चोर में बदल गए।"[3]

---

[1] देवेन्द्र चौबे, दीपक कुमार (सम्पा.), हाशिये का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 353

[2] वही, पृष्ठ - 353

[3] वही, पृष्ठ - 355

3.3.2 आदिवासी आंदोलनः सामान्य परिचय

व्यवस्था द्वारा पूंजीवादी गठजोड़ से आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करके उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में कोयला, यूरेनियम, बाक्साइट, मैंगनिज, माइका, तांबा, लोहा पाए जाते हैं जिनका अंधाधुंध दोहन बहुराष्ट्रीय कम्पनियां कर रही हैं। सत्ता से वंचित आदिवासियों ने संघर्ष का रास्ता अपनाया। इसी संघर्ष से आदिवासी साहित्य ने खुराक ग्रहण की है। छत्तीसगढ़, बिहार, झारखण्ड, राजस्थान, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, केरल, अंडमान, पूर्वोत्तर आदि इलाकों में आदिवासियों ने अंग्रेजों, महाजनों, जमींदारों, देशी शासकों, के विरुद्ध संघर्ष किया।

1855 में आदिवासियों ने अंग्रेजों, महाजनों, जमींदारों के विरुद्ध सिद्धू - कान्हू ने विद्रोह किया। 20 हजार आदिवासियों के साथ सिद्धू - कान्हू ने राजभवन पर हमला कर उसे कब्जा लिया, सिद्धू को फांसी की सज्जा हुई। 10 हजार आदिवासियों के मारे जाने पर भी विद्रोह जारी रहा।

लगान तथा जमीन की बेदखली के खिलाफ संथाल परगना तथा छोटा नागपुर में बिरसा मुण्डा और मुण्डा सरदारों ने विद्रोह किया। बिरसा ने घूम - घूमकर आदिवासियों को क्रांति के लिए संगठित किया, 1900 में बिरसा शहीद हुआ। 1930 में सिंहभूम में हरिबाबा ने आन्दोलन किया, "मीर कासिम के खिलाफ आदिवासी वीरांगना 'सिनगी दई' ने औरतों की सेना लेकर युद्ध किया था। आंध्रप्रदेश में श्री सीताराम राजू के नेतृत्व में आदिवासी समाज ने अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार - बंद गुरिल्ला युद्ध चलाया।"[1] राजस्थान के आदिवासी भीलों तथा गाड़िया लुहारों ने मुगलों और अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी।

आदिवासी संघर्ष में महिलाओं की भागीदारी उनके विद्रोह की विशेषता है। रोहतासगढ़ किले की लड़ाई में सिगनी दई तथा केइली दई लड़ीं, सिद्धू - कान्हू की बहनें झानी व फूलों लड़ीं।

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 7

बिरसा मुण्डा के 'उलगुलान' में नागी, थीगी, चंपी, सामी, बनकन तथा मुंडा की पत्नी आदि महिलाएं शामिल रहीं। शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष के जज्बे को आदिवासियों ने बचाए रखा।

खनिजों के दोहन के लिए आदिवासियों पर रोज हमले हो रहे हैं। वे किसी से बराबरी की मांग नहीं करते बल्कि अपने संसाधनों को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इन संसाधनों में केवल उनकी जीविका ही नहीं है बल्कि उनकी संस्कृति, सभ्यता भी है। सरकारी तंत्र तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट के विरुद्ध वे संघर्षरत्त हैं।

3.3.3 आदिवासी साहित्य एवं आलोचना

मनुष्य की अभिव्यक्ति को साहित्यिक रूप देने में आदिवासी समाज को लम्बे समय तक इंतजार करना पड़ा। मुख्यधारा का साहित्य उन्हें उपदेश देता रहा तथा साहित्य की चारदीवारी में उन्हें घुसने नहीं दिया गया। जंगलों में भटकते, विस्थापित प्रकृति मित्रों को अभिजात साहित्य अनदेखा करता रहा। सुर, ताल, लय के धनी उनके मानवतावादी स्वर की पहचान नहीं हो पाई।

आदिवासी परम्परा, संस्कृति तथा इतिहास की गौरवगाथा उनके लोकगीतों, लोककथाओं, किवंदतियों तथा मिथकों में जिंदा रही। लोक के इस स्वर को पहचान कर आदिवासी साहित्यकारों ने इसे अपने साहित्य में प्रकट करना शुरु किया। आदिवासी साहित्य में आदिवासियों की भाषा, संस्कृति, संवेदना आदि समग्रता में अभिव्यक्त होकर विमर्श का रूप ग्रहण कर रहे हैं। जंगल तथा पर्यावरण के प्रति चिंता ने आदिवासी समाज को मुख्यधारा में स्थापित करने का काम किया है। बहुत देर में ही सही पर आदिवासी साहित्य की बदौलत आदिवासियों को इंसान के रूप में देखा जाने लगा है। आदिवासी साहित्य में उनका जीवन सजीव रूप में सामने आ रहा है। जीवन के अनेक पहलुओं को खोलता आदिवासी साहित्य उल्लास तथा संघर्ष का साहित्य है। ऊंच - नीच, भेदभाव तथा छल - कपट से रहित उनका साहित्य न्याय का पक्षधर है। रमणिका गुप्ता आदिवासी साहित्य को अन्याय का विरोधी तथा न्याय का पक्षधर मानते

हुए कहती हैं, "आदिवासी साहित्य का महत्त्व इसलिए भी है कि यह निरा कल्पना का साहित्य न होकर जीवन का साहित्य है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है।"[1]

आदिवासी साहित्य की शुरुआत पत्रिकाओं से हुई मानी जा सकती है। 'अरावली उद्घोष', 'युद्धरत आम आदमी' जैसी पत्रिकाएं आदिवासी जीवन को स्वर देती हुई उनके जीवन, संघर्ष तथा संस्कृति को केंद्र में रखकर चलती हैं। इनके अलावा आदिवासी जीवन पर विशेषांक निकालने वाली पत्रिकाएं 'दस्तक', 'समकालीन जनमत', 'दोआबा', आदि हैं।

आदिवासी साहित्य के प्रारम्भिक साहित्यकार के रूप में आदिवासी कविता बाबा नागार्जुन का नाम लिया जा सकता है। जिन्होंने आदिवासी जीवन की समस्याओं और चुनौतियों को समझते हुए उनकी विडम्बनाओं पर कविताएं लिखी।

साहित्यकारों में देवेंद्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये', वृंदावनलाल वर्मा का 'कचनार', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारुं', नागार्जुन का 'वरुण के बेटे', योगेंद्रनाथ सिन्हा का 'हो', राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल', वीरेन्द्र जैन का 'पार' प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यास हैं।

आदिवासी विमर्श के उभरने के साथ ही आदिवासी जीवन पर तेजी से लेखन होने लगा। आदिवासियों की जीवनशैली, संस्कृति तथा संघर्ष को आधार बनाकर रचना करने वाले समकालीन आदिवासी रचनाकारों में निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, अनुज लुगुन, भुजंग मेश्राम, शंकरलाल मीणा, हरीराम मीणा, डा. बाहरु सोरवणे,महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, सरिता सिंह बड़ाइक, सहदेव सोरी, संजीव, तेजिंदर, प्रकाश मिश्र, रणेन्द्र, मनमोहन पाठक, रोज केरकेट्टा आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

पी. शंकर (तेलुगु) की हिंदी में अनुदित पुस्तक 'यह जंगल हमारा है' तथा सतनाम (पंजाबी) की पुस्तक 'जंगलनामा' आदिवासियों के जीवन पर आधारित प्रमुख पुस्तकें हैं। हरिराम मीणा की पुस्तक 'धूणी तपे तीर' राजस्थान के भीलों के जीवन पर आधारित महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

---

[1] रमेश सम्भाजी कुरे (सम्पा.), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 33

पुन्नी सिंह का उपन्यास 'सहराना' मध्यप्रदेश तथा राजस्थान के पिछड़े हुए आदिवासियों के जीवन पर आधारित रचना है। राजस्थान की ही आदिवासी जाति 'गाड़िया लुहार' की कला, संघर्ष तथा संस्कृति के रंग में रंगा मणि मधुकर का उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' है।

आधुनिकता से दूर आदिवासियों के जीवन पर आधारित राकेश वत्स का 'जंगल के आस - पास' उपन्यास है। इस उपन्यास में पूंजीपतियों, पुलिस तथा नेताओं से आतंकित इलाके दमकड़ी की कहानी है। आदिवासियों के जीवन में धर्मिक अंधविश्वास, आडम्बरों आदि पर केन्द्रित 'महर ठाकुरों का गांव' बटरोही का एक सशक्त उपन्यास है। आदिवासियों के जीवन की अभावग्रस्तता को व्यक्त करता 'वनतरी' सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का चरित्र प्रधान उपन्यास है।

श्री प्रकाश मिश्र का उपन्यास 'जहां बांस फूलते हैं' लुशेइया आदिवासियों के जीवन यथार्थ को तथ्यपरकता से पेश करता है। भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' राजनीतिक स्वार्थों के शिकार मेव आदिवासियों के दर्द को बयां करता है। 'अल्मा कबूतरी' मैत्रेयी पुष्पा का बुंदेलखंड की कबूतरा नामक आदिवासी जाति का उपन्यास है।

आदिवासी जीवन पर हबीब कैफी का 'गमना' आदिवासियों के गरसिया समुदाय पर लिखित एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। पिछड़ेपन के शिकार गरसिया समुदाय के लोगों के सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों को उपन्यास उभारता है। इस उपन्यास में आदिवासी और गैरआदिवासी समुदाय का संपर्क और उसमें आदिवासियों के शोषण को स्पष्टता से व्यक्त किया गया है।

रणेन्द्र का आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' कमजोर आदिवासियों की आवाज बुलंद करता है। हमेशा से दबाए गए आदिवासी समाज की पीड़ा एवं त्रास को रणेन्द्र ने बखूबी समझा है तथा भूमण्डलीकरण के दौर में उन पर बढ़ते हमलों के बारे में चिंता व्यक्त की है। उपन्यास के केन्द्र में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ चल रहा आदिवासियों का संघर्ष है। भूमण्डलीकरण का यह देवता बहुत ताकतवर है और सभी संस्थाएं इसके साथ हैं। आदिवासी समाज इसके सामने कमजोर पड़ रहा है।

'खुले गगन के लाल सितारे' मधु कांकरिया का आदिवासियों - नक्सलवादियों के जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास में अंतर कथाओं के माध्यम से धार्मिक रुढ़ियों को उजागर किया गया है। उपन्यास में खुले विचारों के साथ व्यवस्था से लड़ने वाले युवाओं को सितारों के रूप में चित्रित किया गया है। पीटर पॉल एका द्वारा रचित उपन्यास 'जंगल के गीत' में आदिवासियों के नायक विरसा मुंडा की अगुवाई में हुए उलगुलान की कहानी है। बिरसा पूरे गांव को विद्रोह के लिए तैयार करता है तथा महिलाओं को भी बंदूक उठाने के लिए प्रेरित करता है। 'सपनों वाली वह दुबली लड़की' शंकर लाल मीणा का आदिवासी युवक - युवती के प्रेम पर आधारित उपन्यास है जिसमें एक पढ़े - लिखे युवक को एक आदिवासी लड़की जीवन के हर मोड़ पर प्रेरणा तथा दिशा देती है।

रामधन लाल मीणा की कहानी 'अप्रत्याशित' व्यवस्था के आगे निरीह तथा हारते आदिवासियों की कहानी है। दिनानाथ मनोहर की कहानियां 'स्थित्यन्तर' तथा 'जंगल शांत हुआ' नई नीतियों के कारण शोषित आदिवासियों की विवशता तथा नई - पुरानी संस्कृति में तालमेल न बैठा पाने लेकिन बदलने की मजबूरी को व्यक्त करती कहानियां हैं। वाल्टर भेंगरा की कहानी 'खखरा का जतरु' आदिवासियों के निश्चल प्रेम तथा जीवन - मूल्यों की कहानी है। जतरु "पढ़ने - लिखने के बाद भी अपनी जमीन और समाज को नहीं भूलता और अपनी बचपन की प्रेमिका अनपढ़ एतबा से शादी कर, अपने विकास के सब प्रलोभन छोड़कर गांव और समाज के विकास के लिए गांव लौट आता है।"[1]

पीटर पॉल एका की 'राजकुमारों के देश में' विस्थापित आदिवासियों के दर्द को व्यक्त करती कहानी है। कृष्णचंद टुड्डू की 'एक वित्ता जमीन' रोज केरकट्टा की 'भंवर' में आदिवासी लड़कियों के अधिकार प्राप्ति के लिए किए गए विद्रोह की कहानियां हैं। आदिवासी जीवन पर लिखने वाले अन्य कहानीकारों में विपिन बिहारी, परदेशीराम वर्मा, भावसिंह हिरमानी, कैलाशचंद आदि उभरते हुए कहानीकार हैं।

---

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 14

हिंदी कविता ने आदिवासी साहित्य को पैनी धार दी है। कविता की बदौलत आदिवासियों को इन्सान की नजर से देखने की कोशिश हुई है। वाहरु सोनवणे अपनी कविता में कहते हैं, "हम स्टेज पर गए ही नहीं/ और हमें बुलाया भी नहीं/ उंगली के इशोरे से/ हमारी जगह हमें दिखाई गई।"[1] आदिवासी कसमसाहट इस कविता में व्यक्त हुई है। आदिवासी महिला 'सिनगी दई' को प्रेरणास्त्रोत मानकर ग्रेस कुजूर लिखती हैं, "और अगर अब भी तुम्हारे हाथों की/ अंगुलियां थरथराई तो जान लो/ मैं बनूंगी एक बार और/ सिनगी दई, बांधूगी फेटा/ और कसेगी फिर से/ बेतरा की गांठ।"[2] बिरसा, सिद्धू - कान्हू, मकी, गोविंद गिरी से प्रेरणा लेकर शोषण को पहचान कर उसका विरोध कर रहा है जिसकी अभिव्यक्ति अनुज लुगुन की कविता में हुई है, "इसी जंग के बीच स्वत्व के लिए/ लहरा ठी थी - सर..... स... स... र...।।।/ सिद्धू - कान्हू और तिलका की तनी धनुष से टूटा तीर/ इनकी मूर्तियों तले चौहारे पर उठती है।"[3] विनोद कुमार शुक्ल की कविता, "जो प्रकृति के सबसे निकट है/ जंगल उनका है/ आदिवासी जंगल में सबसे निकट है/ इसलिए जंगल उन्हीं का है/ अब उनके बेदखल होने का समय है।"[4]

साहित्य की प्रचूरता के बावजूद आदिवासी आलोचना मुख्य रूप से पत्रिकाओं में लेखों के रूप में लिखी जा रही है। इधर कुछ संपादित तथा मौलिक शोधपरक पुस्तकें आदिवासी साहित्य की आलोचना की कमी पूरी कर रही हैं।

रमेशचंद मीणा 'आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और दस्तक' पुस्तक में आदिवासियों पर मौलिक शोध के साथ उनकी समस्याओं तथा मुद्दों को उठाते हैं। दलित तथा आदिवासी विमर्श का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लेखक ने इनके मुद्दों को अलगाया है। आदिवासियों पर भूमण्डलीकरण की मार से उनकी बिगड़ती स्थिति तथा इससे उपजे संघर्ष को लेखक ने बखूबी समझा है। आदिवासियों के जीवन तथा उनके संघर्ष पर आधारित साहित्य की पड़ताल इस पुस्तक में की गई है, "बिरसामुंडा को चर्चित, प्रचारित और प्रसारित करने में महाश्वेता देवी के 'जंगल के

---

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 5

[2] हरिराम मीणा (सम्पा.), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 22

[3] कुमार विरेन्द्र, आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, पेसिफिक पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृष्ठ - 208

[4] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 8

दावेदार' उपन्यास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।"[1] आदिवासी चिंतक महाश्वेता देवी का जिक्र लेखक ने किया है

रमेश सम्भाजी कुरे के सम्पादन में 'आदिवासी साहित्यः विविध आयाम' पुस्तक में आदिवासी जीवन पर केन्द्रित रचनाओं के उद्भव, विकास एवं उनकी समकालीन स्थिति का जायजा लिया गया है। इस पुस्तक में आदिवासी उपन्यासों की रचना के संबंध में लेखक कहता है, "हिंदी के आदिवासी उपन्यास का उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए आदिवासियों के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना।"[2] पुस्तक में उपन्यास के अलावा आदिवासी कहानी, कविता, नाटक तथा आदिवासी साहित्यकारों की समीक्षा भी है।

ब्रह्मदेव शर्मा की पुस्तक 'आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक परिचय' में पिछड़े हुए आदिवासी समाज की समस्याओं को उठाया गया है। लेखक ने असमान विकास पर आधारित अर्थव्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाएं है। पुस्तक में विकास के नाम पर हुए आधुनिकीकरण से तालमेल न बैठा पाने वाले आदिवासियों की छटपटाहट को रेखांकित किया गया है। उत्तर - पश्चिम क्षेत्र की बहुपत्नी प्रथा पर लेखक ने विस्तार से चर्चा की है। आदिवासियों की समस्याओं को पर्यावरण तथा उनकी संस्कृति से जोड़कर देखा है।

रमणिका गुप्ता की पुस्तक 'आदिवासी कौन', तथा उन्हीं द्वारा संपादित 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' आदिवासी जीवन पर केन्द्रित महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में जहां आदिवासी जीवन की जटिलताएं तथा उनका जुझारु रूप चित्रित हुआ है वहीं दूसरी पुस्तक में आदिवासी जीवन की साहित्य में अभिव्यक्ति पर गौर किया है। 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पुस्तक में लेखिका ने आदिवासी जीवन पर केन्द्रित साहित्य की विभिन्न विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि का संकलन तथा समीक्षा की है।

दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हाशिये का वृतांत' हाशिए पर धकेले गए समुदायों की स्थिति पर केन्द्रित पुस्तक है। हाशिए के इन समुदायों में एक समुदाय

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 27

[2] रमेश सम्भाजी कुरे (सम्पा.), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 88

आदिवासियों का है जो अपने जल, जंगल तथा जमीन के लिए संघर्षरत्त है। आदिवासी समुदाय की दशा तथा दिशा लेखकों ने समझी है।

3.3.4 आदिवासी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

दलित तथा स्त्री विमर्श की तरह पितृसत्ता तथा लैंगिक समानता या सामाजिक समानता आदिवासियों का मुद्दा नहीं है, ना ही वे अपनी पहचान को बचाए रखने के लिए लड़ रहे। उनका संघर्ष अपने प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के लिए है। आज मीडिया तथा सरकारी तंत्र का तामझाम आदिवासी संस्कृति पर ही केन्द्रित होकर चर्चा कर रहा है। आदिवासियों की सांस्कृतिक पहचान पर ही पूरा जोर लगाया जा रहा है, लेकिन सोचने की बात है कि उनके जल, जंगल और जमीन को नष्ट करके क्या उनके जीवन तथा संस्कृति को बचाया जा सकता है।

लम्बे समय तक अंधेरे में रहने वाले आदिवासी समाज में सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा रचनाकारों के प्रवेश से चेतना जगी है। उनका परिचय नई - नई विचारधाराओं से होने लगा है। जिनके परिप्रेक्ष्य में वे अपने इतिहास तथा परिस्थितियों को समझने लगे हैं। आदिवासियों में अन्याय तथा भेदभाव के खिलाफ अपने हकों को पाने का विद्रोह जगा है, वे अस्तित्व की लड़ाई लड़ने लगे हैं। आदिवासी समाज अपने जल, जंगल और जमीन को बचाने की लड़ाई लड़ रहा है। जल, जंगल और जमीन उनके जीवन का आधार है, इन्हीं से उनका जीवन चलता है। जंगल के बचे रहने पर ही आदिवासियों का अस्तित्व बचा रह सकता है। आदिवासियों के पूर्वजों ने जंगल को सींचा है और जंगल ने उनको जीवन दिया है।

आज के दौर में विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके आदिवासियों के जीवन को तबाह किया जा रहा है। बड़े - बड़े बांध बनाकर उनके गांव के गांव उजाड़े जा रहे हैं। जंगलों, पहाड़ों को नष्ट करके उनका आजीविका के साधन छीने जा रहे हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में मुनाफे के आगे आदिवासियों के जीवन का सवाल गौण हो चुका है। उनकी स्थिति की तरफ किसी का ध्यान नहीं है। इसी की चिंता में रमेशचंद मीणा कहते हैं, "बस्तर में कच्चे लोहे का दोहन

1954 में होने लगता है। पिछली आधी सदी गुजर जाने पर भी इन लोह दोहन क्षेत्रों में जाकर यह देखने का प्रयास नहीं किया गया कि वहां क्या स्थिति हुई है ?"[1]

व्यावसायिक हितों के लिए विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीन छीनकर उन्हें बेदखल किया जा रहा है। रमणिका गुप्ता इस बारे में चिंतित हैं, "आजादी के बाद देश के विकास का यह कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता है। उसके खेत खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टालों में समा गए या कुर्सियों, मेजों और फर्नीचर में बदल गए। गाछ खूंटे और बल्ले बन गए और बन गई रेल की पटरियां।"[2]

पूंजीवादी भूमण्डलीकरण के इस दौर में आदिवासियों का विस्थापन उनकी जीवनशैली को पूर्णतः बदल रहा है। व्यवस्था द्वारा सुनहरे सपने दिखाकर आदिवासियों की जमीन उनसे छीनी जा रही है। विकास के पहाड़ के नीचे आदिवासी का अस्तित्व दब रहा है। उनकी जमीन, उनकी संस्कृति सब चीजों से उन्हें विस्थापित होना पड़ रहा है, "आदिवासियों के लिए बड़ा मुद्दा विस्थापन का रहा है। देश के विकास की जब भी बात होती है तब आदिवासी अपने आप सामने आ जाते हैं। देश के विकास का रास्ता आदिवासी की जमीन से होकर ही गुजरता है। बांध, चतुरभुज कॉरिडोर और औद्योगिक परियोजनाओं को मूर्त रूप देना हो तो उजड़ना आदिवासी को ही पड़ता है, अपनी जमीन से विस्थापित आदिवासी ही होता है।"[3] यह तथाकथित विकास आदिवासी के लिए विनाश का पर्याय बन रहा है, "एक अध्ययन के अनुसार पिछले दस सालों में उड़ीसा, झारखण्ड, आंध्रप्रदेश और छत्तीसगढ़ सरकार ने एक करोड़ एकड़ से अधिक जमीन अधिग्रहीत की जिससे सोलह लाख लोग विकास के नाम पर विस्थापित हुए।"[4] आज के दिन आदिवासी अपने जीवन को बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है।

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 54

[2] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[3] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 13

[4] वही, पृष्ठ - 45

आदिवासी समाज में स्त्रियां पूरी तरह से स्वतंत्र हैं। उन पर किसी तरह की रोक - टोक या जोर - जबरदस्ती नहीं है। न वहां दहेज का लालच है ओर न ही पर्दे की घुटन। उन्हें अपना जीवनसाथी चुनने तथा पुनर्विवाह करने की पूरी आजादी है। लेकिन आदिवासी जंगलों और जमीन को लूटने वाले महाजन तथा ठेकेदारों से आदिवासी महिलाएं भी बच नहीं पाती। तथाकथित शिक्षित समाज शिक्षा, धर्म, धन आदि के बल पर आदिवासी समाज को छलता है। आदिवासी लड़कियों को तरह - तरह के प्रलोभनों में फंसाकर उनकी अस्मिता के साथ खेला जाता है। भोग की वस्तु समझकर परोसी गई प्रताड़ित आदिवासी स्त्रियों की पीड़ा को निर्मला पुतुल ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है, "आदिवासी औरत को लेकर कथित सभ्य समाज पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहा है। उनकी रचनाओं में आदिवासी महिला कभी भी यथार्थ रूप में चित्रित ही नहीं हो सकी है। जब निर्मला पुतुल अपनी कविता में आदिवासी महिला के चित्र खड़े करती है तब सभ्य समाज सिर्फ चौंकता है।"[1]

आदिवासियों की संस्कृति पर्यावरण केन्द्रित संस्कृति है। उनकी संस्कृति की विशिष्टता उसका प्रकृति केन्द्रित होना ही है, "उनका सारा जीवन, संस्कृति, विश्वास एवं रीति - रिवाज पर्यावरण से इस तरह जुड़े होते हैं कि उन्हें अलग से देखा समझा ही नहीं जा सकता। उनका धर्म पर्यावरण - केन्द्रित है, संस्कृति विशिष्ट है, विश्वास एवं आस्थाएं पर्यावरण के इर्द - गिर्द घूमती हैं।"[2]

रहन - सहन को लेकर आदिवासी मैदानी इलाकों की तुलना में पूर्णतः भिन्न हैं। कपड़े न पहनना या कम कपड़े पहनना आदिवासियों की संस्कृति और रहन - सहन में शामिल है। "वहां पर यदि किसी बालिका को अपने वक्षस्थल ढंकने के लिए वस्त्र पहनने के लिए कहा जाए तो वह शरमाती है और उसे अटपटा लगता है। उसके परिजन परिहास में कहने लगते हैं कि ये तो खालपटी (मैदानी इलाका) की हो गई।"[3]

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 67

[2] डा. ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, बानगंगा, भूमिका से

[3] वही,पृष्ठ - 5

रीति - रिवाजों तथा सामाजिक मान्यताओं के संदर्भ में आदिवासी बहुत रूढ़ नहीं है। विवाह आदि के मामले में वे बहुत जनतांत्रिक हैं, "आदिवासी समाज में यदि कोई लड़का और लड़की परस्पर वचन के आधार पर पति - पत्नी के रूप में साथ रहना शुरु कर दें तो सामाजिक दृष्टि से उनका विवाह मान्य हो जाता है। यहां परस्पर वचन के लिए साक्ष्य आवश्यक नहीं है। औपचारिक विवाह की रस्में बाद को सुविधा के अनुसार कभी भी पूरी की जा सकती है। इस संबंध में कोई सामाजिक ग्रंथियां नहीं हैं।"[1] आदिवासी क्षेत्र में जब से खनिजों के दोहन का विरोध तथा जंगल को बचाने का विद्रोह शुरु हुआ है तब से उनकी संस्कृति की तरफ ध्यान जाने लगा है। कला तथा संस्कृति की आवाज को दबाकर उसे मनोरंजन तथा सजावट के साधन के रूप में पेश किया जा रहा है।

कहा जा सकता है कि 1980 के बाद उभरे स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्शों की जड़ में जाकर इनके सरोकारों को आलोचना ने गहराई से समझा है। पितृसत्ता तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर चोट करते हुए आदिवासी संस्कृति के पक्ष में आलोचना ने एक हथियार का काम किया है। आलोचना ने जहां स्त्री एवं दलित के लिए समान अधिकारों और अलग भाषा की मांग की वहीं आदिवासियों के संघर्ष से प्रेरणा लेकर देशी - विदेशी पूंजीपतियों का विरोध किया है।

[1] डा. ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, बानगंगा, पृष्ठ - 13